ये तेरे प्रतिरूप

ये तेरे प्रतिरूप

[कहानी-संग्रह]

'अज्ञेय'

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

—खड़ा मिलेगा
वहां सामने तुमको
अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा
नर, जिसकी अनझिप आंखों में
नारायण की व्यथा भरी है !

शमशेरजी को
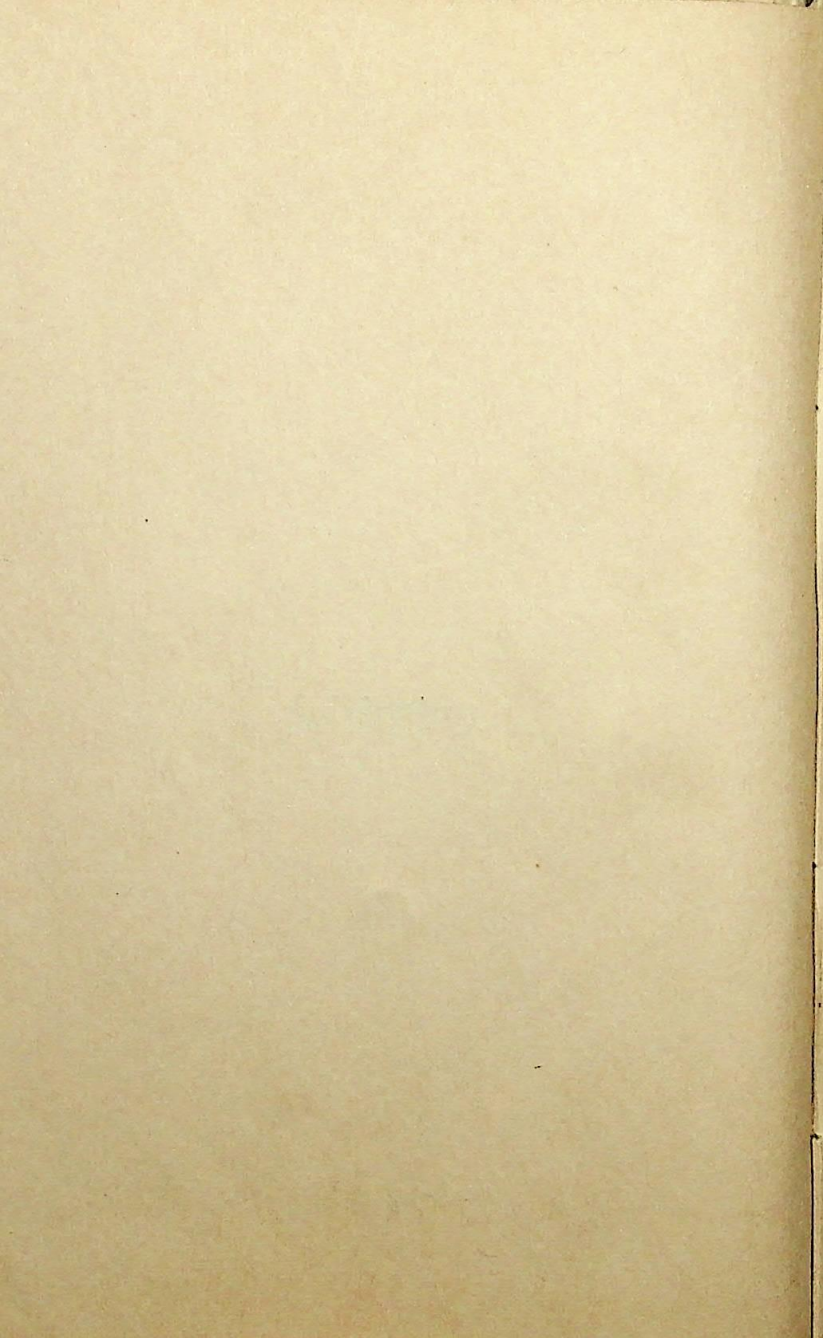
क्रम

निवेदन

इस संकलन की आधी कहानियां पुस्तकाकार यहीं पहली बार छप रही हैं। अन्य कहानियां दूसरे संग्रहों में छप चुकी हैं, किन्तु जिन संग्रहों में छपी थीं वे वर्षों से अनुपलभ्य हैं, और उनके पुनः मुद्रण का विचार भी नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उनमें संकलित कहानियों को नये प्रकाशनों में मिला लेना स्वाभाविक था। जो कहानियां यहां ली गई हैं, उनके इस संकलन में आने की संगति लेखक के सामने स्पष्ट है, और वह आशा करता है कि जिस दृष्टि से ये कहानियां एकत्र की गईं, वह पाठक का भी अनुमोदन पाएंगी।

—अज्ञेय

सेब और देव

प्रोफेसर गजानन पण्डित ने अपना चश्मा पोंछकर फिर आंखों पर लगाया और देखते रह गए।

मोटर पर से उतरकर और सामान डाकबंगले में भिजवाकर उन्होंने सोचा था, अभी आराम करने की ज़रूरत तो है नहीं, ज़रा घूम-घामकर पहाड़ी सौन्दर्य देख लें; और इसीलिए मोटर के अड्डे के धक्कम-धक्के से अलग होकर वे इस पहाड़ी रास्ते पर हो लिए थे। छाया में जब चश्मे का कांच ठण्डा हो गया और उसपर उनके गर्म बदन से उठी हुई भाप जमने लगी, तब उन्होंने चश्मा उतारकर रूमाल से मुंह पोंछा, फिर चश्मा साफ करके आंखों पर चढ़ाया, और फिर देखते रह गए।

पहाड़ी रास्ता आगे एकाएक खुल गया था; चीड़ के वृक्ष समाप्त हो गए थे। आगे रास्ते को पार करता हुआ एक झरना वह रहा था। उसका जितना अंश समतल भूमि में था उसपर तो छाया थी, लेकिन जहां वह मार्ग के एक ओर नीचे गिरता था, वहां प्रपात के फेन पर सूर्य की किरणें भी पड़ रही थीं। ऐसा जान पड़ता था कि अन्धकार की कोख में से चांदी का प्रवाह फूट पड़ा है—या कि प्रकृति-नायिका की कजरारी आंख से स्नेह के गद्गद आंसुओं की झड़ी···और उसके पार एक चट्टान के सहारे एक पहाड़ी राजपूत बाला खड़ी थी। उसकी चौंकी हुई भोली शक्ल से साफ दीखता था कि प्रोफेसर साहब का वहां अकस्मात् आ जाना उसे एकदम अनधिकार-प्रवेश मालूम हो रहा है।···

प्रोफेसर साहब दिल्ली के एक कालेज में प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के अध्यापक हैं। वे उन थोड़े-से लोगों में हैं, जिनका पेशा और मनोरंजन एक ही है। मनोरंजन के लिए भी वे पुरातत्त्व की ओर ही जाते हैं।

यहां कुल्लू पहाड़ की सुरम्य उपत्यकाओं में भी वे यही सोचते हुए आए हैं कि यहां भारत की प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष उन्हें मिलेंगे, और हिन्दू-काल की शिल्प-कला के नमूने, और धातु या प्रस्तर या सुधा की मूर्तियां, और न जाने क्या-क्या...लेकिन इतना सब होते हुए भी सौन्दर्य के प्रति—जीते-जागते स्पन्दनयुक्त क्षणभंगुर सौन्दर्य के प्रति—उनकी आंखें अन्धी नहीं हैं। बाला को वहां खड़ी देखकर उसके पैरों के पास बहते हुए झरने का स्वर सुनते हुए उन्हें पहले तो एक हंसिनी का ख्याल आया, फिर सरस्वती का (यद्यपि बाला के हाथ में वीणा नहीं, एक छोटी-सी छड़ी थी)। उन्होंने अपने स्वर को यथासम्भव कोमल बनाकर पूछा, "तुम कहां रहती हो ?"

बाला ने उत्तर नहीं दिया, ससम्भ्रम दृष्टि से उनकी ओर देखकर जल्दी-जल्दी पहाड़ पर चढ़ने लगी।

प्रोफेसर साहब मुस्कराकर आगे चल दिए। बालिका का भोलापन उन्हें अच्छा-अच्छा-सा लगा। सोचने लगे, कितने सीधे-सादे सरल स्वभाव के होते हैं यहां के लोग ! प्रकृति की सुखद गोद में खेलते हुए इन्हें न फिक्र है, न खटका है, न लोभ-लालच है। अपने खाते-पीते, ढोर चराते, गाते-नाचते दिन बिता देते हैं। तभी तो बाहर से आनेवाले आदमी को देखकर संकोच होता है। अपने-आपमें लीन रहनेवाले इन भले प्राणियों को बाहर-वालों से क्या सरोकार ?

आगे बढ़ते-बढ़ते, प्रोफेसर साहब सोचने लगे, ऐसे भले लोग न होते, तो प्राचीन सभ्यता के जो अवशेष बचे हैं वे भी क्या रह जाते ? खुदा-न-खास्ता ये लोग यूरोपियन सभ्यता के सीखे हुए होते तो एक-दूसरे को नोचकर खा जाते, उसकी राख भी न बची रहने देते। लेकिन यहां तो फाहियान के ज़माने का ही आदर्श है; सबको अपने काम से मतलब है, दूसरे के काम में दखल देना, दूसरे के मुनाफे की ओर दृष्टि डालना यहां महापाप है। लोग ढोर चरने छोड़ देते हैं, शाम को ले आते हैं। कभी चोरी नहीं, शिकायत नहीं। खेती खड़ी है, कोई पहरेदार नहीं। मजाल क्या एक भुट्टा भी चोरी हो जाए। मेरे ख्याल में तो अगर मैं एक चवन्नी यहां राह में फेंक दूं तो

कोई उठाएगा नहीं कि न जाने किसकी है और कौन लेने आ जाए !

रास्ता अब फिर घिर गया था, लेकिन चीड़ के दीर्घकाय वृक्षों से नहीं, अब उसके दोनों ओर थे सेव के छोटे-छोटे लचीले गातवाले पेड़, डार-डार पर लदे हुए फलों के कारण मानो विनय से झुके हुए—क्योंकि जहां सार होता है वहां विनय भी अवश्य होता है, क्षुद्र व्यक्ति ही अविनयी हो सकता है—और कभी-कभी हवा से झूम-से जाते हुए। कुल्लू के जगत्प्रसिद्ध सेबों की प्रशंसा प्रोफेसर साहब ने सुन ही रखी थी, कई बार मंगाकर सेब खाए भी थे, लेकिन आज इस प्रकार पेड़ पर लगे हुए असंख्य फलों को देखकर उनकी तबीअत खुश हो गई। और इससे भी अधिक खुशी हुई इस बात से कि गन्ध और स्वाद और रस की उस विपुल राशि का न कोई रक्षक कहीं देखने में आता है, न बचाव के लिए बाड़ तक लगाई गई है। पहाड़ी सभ्यता के प्रति उनका आदर-भाव और भी बढ़ गया—क्या शहर में इस तरह बाग रह सकता ? फलों के पकने की कभी नौबत ही न आती और नहीं तो स्कूल-कालेजों के लड़के ही टिड्डी-दल की तरह आकर सब साफ कर देते और जितना खाते नहीं उतना बिगाड़ देते। वहां तो कोई बाग लगाए तो दस-एक भोजपुरिये लठैत पहरेदार रखे, और फिर भी चारों ओर जेल की सी दीवार खड़ी करे कि कोई लुक-छिपकर न ले भागे, तब कहीं जाकर चैन से रह सके। और यहां—यहां बाग की सीमा बताने के लिए एक तार का जंगला तक नहीं है। पेड़ों के नीचे जो लम्बी-लम्बी घास लग रही है, वही रास्ते के पास आकर रुक जाती है, वहीं तक बाग की सीमा समझ लो तो समझ लो। यहां तो···

प्रोफेसर साहब के पास ही धम्म से कुछ गिरा। उन्होंने चौंककर देखा, उन्हें आते देख एक लड़का पेड़ पर से कूदा है और उसकी अपर्याप्त आड़ में छिपने की कोशिश कर रहा है। उसके हाथ में दो सेब हैं जिन्हें वह अपने फटे हुए भूरे कोट में किसी तरह छिपा लेना चाहता है।

उसकी झेंपी हुई आंखें और चेहरा साफ कह रहा था कि वह चोरी कर रहा है।

साधारणतया ऐसी दशा में प्रोफेसर साहब किंचित् ग्लानि से उसकी ओर देखते और आगे चल देते, लेकिन इस समय वैसा नहीं कर सके। उन्हें जान पड़ा कि यह लड़का उस सारी प्राचीन आर्य सभ्यता को एकसाथ ही नष्ट-भ्रष्ट किए दे रहा है जो फाहियान के समय से सदियों पहले से अक्षुण्ण बनी चली आई है। वे लपककर उस लड़के के पास पहुंचे और बोले, "क्यों बे बदमाश, चोरी कर रहा है ? शर्म नहीं आती दूसरे का माल खाते हुए ?"

लड़का घबराया-सा खड़ा रहा, बोल नहीं सका। प्रोफेसर साहब और भड़क उठे। उन्होंने एक तमाचा उसके मुंह पर जमाया, सेब छीनकर घास में फेंक दिए, जहां वे ओझल हो गए। फिर वे गर्दन पकड़कर लड़के को धकेलते हुए रास्ते की ओर ले आए।

"पाजी कहीं का! चोरी करता है! तेरे जैसों के कारण तो पहाड़ी लोग बदनाम हो गए हैं। क्यों चुराए थे सेब ? यहां तो पैसे के दो मिलते होंगे, एक पैसे के खरीद लेता ? ईमान क्यों बिगाड़ता है ?"

रास्ते पर लड़के को उन्होंने छोड़ दिया। वह वहीं खड़ा आंसू-भरी आंखों से उधर देखता रहा जहां घास में उसके तोड़े हुए सेब गिरकर आंखों से ओझल हो गए थे।

प्रोफेसर साहब आगे बढ़ते हुए सोच रहे थे, खड़ा देख रहा होगा कि चोरी भी की तो भी फल नहीं मिला। बहुत अच्छा हुआ ! सेबों का सड़ जाना अच्छा, चोर को मिलना नहीं। सड़े, चोर को क्या हक है कि खाए ?

प्रोफेसर साहब एक गांव के पास आ रुके। अन्दाज से उन्होंने जाना कि यह मनाली गांव होगा, और उन्हें याद आया कि यहां पर एक दर्शनीय प्राचीन मन्दिर है। गांव के लोगों से पता पूछते हुए वे मनु के मन्दिर पर पहुंच ही गए। मन्दिर छोटा था, सुन्दर भी नहीं था, लेकिन संसार-भर में मनु का एकमात्र मन्दिर होने के नाते वह अपना अलग महत्त्व रखता था। प्रोफेसर साहब कितनी ही देर तक एकटक उसकी ओर देखते रहे, यहां तक कि देहरी पर बैठे हुए बूढ़े पुजारी का ध्यान भी उनकी ओर आकृष्ट हो

गया, आने-जानेवाले तो खैर देखते ही थे।

प्रोफेसर साहब ने गद्‌गद स्वर में पूछा, "आसपास और भी कोई मन्दिर है ?"

पास खड़े एक आदमी ने कहा, "नहीं बाबूजी, यहां कहां मन्दिर है !"

"यहां मन्दिर नहीं ? अरे भले आदमी, यहां तो सैकड़ों मन्दिर होने चाहिए। यहां पर…"

"बाबूजी, यहां तो लोग मन्दिर देखने आते नहीं। कभी-कभी कोई आता है तो यह मनूरिखि का मन्दिर देख जाता है, बस। और तो हम जानते नहीं।"

पुजारी ने खांसते हुए पूछा, "कौन-सा मन्दिर देखिएगा बाबू ?"

"कोई और मन्दिर हो। आसपास की सब मन्दिर-मूर्तियां मैं देखना चाहता हूं।"

पुजारी ने थोड़ी देर सोचकर कहा, "और तो कोई नहीं, उस चोटी के ऊपर जंगल में एक देवी का स्थान है। वहां पहले कभी एक किला भी था जिसके अन्दर देवी के स्थान में पूजा होती थी। पर अब तो उसके कुछ पत्थर ही पड़े हैं। वहां कोई जाता नहीं अब, उस जंगल में भूत बसते हैं ?"

प्रोफेसर साहब कुछ मुस्कराए, लेकिन बोले, "कैसे भूत ?"

"कहते हैं कि पुराने राजाओं के भूत रहते हैं—वे राजा बड़े परतापी थे।"

"अरे, उन भूतों से मेरी दोस्ती है !" कहकर प्रोफेसर साहब ने रास्ता पूछा, और क्षण-भर सोचकर पहाड़ पर चढ़ने लगे। पुजारी ने 'पास ही' बताया था, तो मील-भर से अधिक नहीं होगा, और अभी तीन बजे हैं, शाम होने तक मज़े में बंगले में पहुंच जाऊंगा…

जंगल का रूप बदलने लगा। बड़े-बड़े पेड़ समाप्त हो गए; अब छोटी-छोटी झाड़ियां ही दीख पड़ने लगीं। यह पड़ाव का वह मुख था जो हवा के थपेड़ों से सदा पिटता रहता था; जाड़ों में तो बर्फ की चोटें यहां लगे हुए किसी भी पेड़-पौधे को कुचल डालतीं। प्रोफेसर साहब को समझ आने लगा

कि यह ऊंचा शिखर किले के लिए बहुत उपयुक्त जगह है, और यह भी वे जान गए कि यहां बना हुआ किला उजड़कर कितनी जल्दी निरवशेष हो जाएगा।

झाड़ियां भी छोटी होती चलीं। घास की बजाय अब पथरीली ज़मीन आई, जिसमें किसी तरफ कोई बनी हुई पगडंडी नहीं थी, जिधर चले जाओ वही मार्ग। कहीं-कहीं लाल पत्थर के भी कुछ टुकड़े दीख जाते थे, जो शायद किले की इमारत में कहीं लगे होंगे; नहीं तो उधर लाल पत्थर होता नहीं। कहीं-कहीं पत्थर और मिट्टी के स्तूपाकार टीले की आड़ में कोई गाढ़े रंग के पत्तोंवाली झाड़ी लगी हुई दीख जाती, तो वह आसपास के उजाड़ सूने-पन को और भी गहरा कर देती। सांझ के धुंधलके में ऐसी झाड़ी को देख-कर स्तूप में धूम्रवत् निकलते हुए किसी प्रेत की कल्पना होना कोई अस-म्भव बात नहीं थी।

एक ऐसे ही स्तूप की आड़ में प्रोफेसर साहब ने देखा, एक गड्ढे में कीच भरी है जिसकी नमी से पोसे जाते हुए दो वृक्ष खड़े हैं, और उनके नीचे पत्थर का छोटा-सा मन्दिर है, जिसका द्वार बन्द पड़ा है।

प्रोफेसर साहब ने कुण्डे में अटकी हुई कील निकाली तो द्वार खुलने की बजाय आगे गिर पड़ा। उसके कब्ज़े उखड़ गए हुए थे। उन्होंने किवाड़ को उठाकर एक ओर धर दिया।

थोड़ी देर वे पीछे हटकर खड़े रहे कि बन्द और सीलन के कारण बदबूदार हवा बाहर निकल जाए, फिर भीतर झांकने लगे।

मन्दिर की बुरी हालत थी। भीतर न जाने कब के बलि-पशुओं के सींग—बकरे के और हिरन के—पड़े हुए थे जो सूखकर धूल के रंग के हो गए थे। उनपर कीड़े भी चल रहे थे। फर्श के पत्थरों के जोड़ों से काही उग आई थी। उन सींगों के ढेर से देवी की काले पत्थर की मूर्ति एक ओर को लुढ़क गई थी, पास में पड़ी हुई गणेश की पीतल की मूर्ति जंग से विकृत हो रही थी। केवल दूसरी ओर खड़ा श्वेत पत्थर का शिव-लिंग अब भी साफ, चिकना और सधे हुए सिपाही की तरह शान्त खड़ा था। आसपास की जर्जर

अव्यवस्था में उसके दर्पोन्नत भाव से ऐसा जान पड़ता था मानो क्रुद्ध होकर कह रहा हो, 'मेरी इस निभृत अंतःशाला में आकर मेरे कुटुम्ब की शान्ति भग करनेवाले तुम कौन ?'

दो-एक मिनट प्रोफेसर साहब देहरी पर खड़े-खड़े ही इस दृश्य को देखते रहे। फिर उन्होंने बांह पर टंगा हुआ अपना ओवरकोट नीचे रखा, एक बार चारों ओर देखकर निर्जन पाकर भी जूते खोल देना ही उचित समझा, और भीतर जाकर देवी की मूर्ति उठाकर देखने लगे।

मूर्ति अत्यन्त सुन्दर थी। पांच सौ वर्ष से कम पुरानी नहीं थी। इस लम्बी अवधि का उसपर जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा था या पड़ा था तो पत्थर को और चिकना करके मूर्ति को सुन्दर ही बना गया था। मूर्ति कहीं बिकती तो तीन-चार हज़ार से कम की न होती; किसी अच्छे पारखी के पास होती तो दस हज़ार भी कुछ अधिक मूल्य न होता। और यह यहां ऐसी उपेक्षित हालत में पड़ी है। न जाने कब से कोई इस मन्दिर तक आया भी नहीं है!

प्रोफेसर साहब ने मूर्ति ठीक स्थान पर सीधी करके रख दी, और फिर देहरी पर आकर उसका सौन्दर्य देखने लगे।

पांच सौ वर्ष...पांच सौ वर्ष से यह यहीं पड़ी होगी; न जाने कितनी पूजा इसने पाई होगी, कितनी बलियों के ताजे-गर्म-पूत रक्त से स्नान करके अपना दैवी सौन्दर्य निखारा होगा, और अब कितने बरसों से इन रेंगते हुए कीड़ों की लम्बी-लम्बी जिज्ञासु मूंछों की ग्लानिजनक गुदगुदाहट सह रही होगी...उफ, देवत्व की कितनी उपेक्षा! मानव नश्वर है; वह मर जाए और उसकी अस्थियों पर कीड़े रेंगे, यह समझ में आता है। लेकिन देवता...पत्थर जड़ है, उसका महत्त्व कुछ नहीं, लेकिन मूर्ति तो देवता की है; देवत्व की, चिरन्तनता की निशानी तो है। एक भावना है, पर भावना आदरणीय है—क्या यह मूर्ति यहीं पड़े रहने के काबिल है, इन कीड़ों के लिए जिनके पास श्रद्धा को दिल नहीं, पूजने को हाथ नहीं, देखने को आंखें नहीं, छूने को त्वचा तक नहीं, केवल टटोलने को हिलती हुई गन्दी मूंछें

हैं···यह मूर्ति कहीं ठिकाने से होती···

न जाने क्यों प्रोफेसर साहब ने एकाएक मन्दिर-द्वार से हटकर चारों ओर घूमकर देखा ; फिर न जाने क्यों आसपास निर्जन पाकर तसल्ली की सांस ली, और फिर वहीं आ खड़े हुए।

मूर्ति गणेश की भी बुरी नहीं, लेकिन वह उतनी पुरानी नहीं, न उतनी सुन्दर शैली पर निर्मित है। पीतल की मूर्ति में कभी वह बात आ ही नहीं सकती जो पत्थर में होती है। देवी की मूर्ति को देखते-देखते प्रोफेसर साहब के हृदय की स्पन्दन-गति तीव्र होने लगी—इतनी सुन्दर जो थी वह ! वे फिर आगे बढ़कर उसे उठाने को हुए, लेकिन फिर उन्होंने बाहर झांककर देखा। पर वहां कोई नहीं था ; कोई आता ही नहीं उस बिचारे उजड़े हुए मन्दिर के पास ! किसे परवाह थी निर्जन को अपनी दीप्ति से जगमग करती हुई उस देवी की ! देवी के प्रति दया और सहानुभूति से गद्गद होकर प्रोफेसर साहब फिर भीतर आए। लपककर उन्होंने मूर्ति को उठाया, और अपने धड़कते हुए हृदय को शान्त करने की कोशिश करते हुए एकटक उसे देखने लगे।

दिल इतना धड़क क्यों रहा है ? प्रोफेसर साहब को ऐसा लगा जैसे वे डर रहे हैं। फिर उन्हें इस विचार पर हंसी-सी भी आ गई। डर किससे रहा हूं मैं ? प्रेतों से ? मैं भी क्या यहां के लोगों की तरह अन्धविश्वासी हूं जो प्रेतों को मानूंगा ? कविता के लिहाज से भले ही मुझे यह सोचना अच्छा लगे कि यहां प्रेत बसते हैं, और रात को जब अंधेरा हो जाता है तब इस बन्द मन्दिर में आकर देवी के आसपास नाचते हैं···देवी है, शिव हैं, उनके गुण भी तो होने ही चाहिए ! रात को मूर्तियों को घेर-घेरकर नाचते होंगे और इन न जाने कब के बलि-पशुओं के भस्मीभूत सींगों से प्रेतोचित प्रसाद पाते होंगे। और दिन में मन्दिर की कन्दराओं में, दरारों में छिपकर अपनी उपास्य मूर्तियों की रक्षा करते होंगे, देखते होंगे कि कौन आता है, क्या करता है···

उन्होंने फिर मूर्ति को रख दिया और लौटकर देखा। उन्हें एकाएक

लगा जैसे उस अखण्ड नीरवता में कोई छाया-सा आकार उनके पीछे से भागकर कहीं छिप गया है—प्रेत ! वे फिर एक रुकती-सी हंसी हंसकर बाहर निकल आए। इस घोर निर्जन ने मेरे शहर के शोर से उलझे स्नायुओं को और उलझा दिया है—इसी नतीजे पर वे पहुंचे और फिर मन्दिर की ओर देखने लगे।

दिन ढल रहा था। मन्दिर की लम्बी पड़ती हुई छाया को देखकर प्रोफेसर साहब को ऐसा लगा, मानो वह दूर हटती-हटती भी मन्दिर से अलग होना नहीं चाहती; उससे चिपटी हुई है, मानो उसकी रक्षा करना चाहती हो, मानो वह मन्दिर और उसकी मूर्तियां उस छाया की गोद के शिशु हों। प्रोफेसर साहब का मन भटकने लगा।

···ईजिप्ट के पिरामिड भी इतने ही उपेक्षित पड़े थे। यह मन्दिर आकार में बहुत छोटा है, वे विराट् थे; लेकिन उपेक्षा तो वही थी। उसमें भी न जाने क्या-क्या खज़ाने ऐसे ही पड़े थे जैसे यहां यह मूर्ति, उनके बारे में भी अज्ञान ने क्या-क्या बातें फैला रखी थीं भूत-प्रेतों की···अन्त में यूरोप के पुरातत्त्वविद् साहस करके वहां गए, उन्होंने उनमें प्रवेश किया और अब संसार के बड़े-बड़े संग्रहालयों में वे खज़ाने पड़े हैं और अपने महत्त्व के अनुरूप सम्मान पाते हैं। फिलाडेल्फिया के अजायबघर में तूतांखामेन् की वह स्वर्ण-मूर्ति—उस नौ सेर खरे सोने का ही मूल्य तीस हज़ार रुपये होगा—फिर प्राचीनता का मूल्य अलग और उसमें जड़े हुए हीरे-जवाहरात का अलग···कुल मिलाकर लाखों रुपये की चीज़ है वह···

वे फिर भीतर गए। मूर्ति उठाई और फिर रख दी। रखकर फिर बाहर आ गए। उन्होंने फिर सब ओर देखा। कोई नहीं था। सूर्य भी एक छोटे-से बादल के पीछे छिप गया था।

एकाएक उनकी घबराहट का कारण स्पष्ट हो गया। कुछ ठण्ड-सी जानकर उन्होंने जल्दी से ओवरकोट पहना और फिर भीतर चले गए।

मूर्ति के उपयुक्त यह स्थान कदापि नहीं है। मन्दिर है, पर जहां पूजा ही नहीं होती वह कैसा मन्दिर ? और गांव वाले परवाह कब करते हैं ?

यहां मन्दिर भी गिर जाए तो शायद महीनों उन्हें पता ही न लगे। कभी किसी भटकी हुई भेड़-बकरी की खोज में आया हुआ गड़रिया आकर देखे तो देखे ! यहां मूर्ति को पड़ा रहने देना भूल ही नहीं, पाप है।

इस निश्चय पर आकर भी उन्होंने एक बार बाहर आकर तसल्ली की कि कहीं कोई देख नहीं रहा है; तब लौटकर मूर्ति उठाकर जल्दी से कोट के भीतर छिपाई, किवाड़ को यथास्थान खड़ा किया, बूट एक हाथ में उठाए, और बिना लौटकर देखे भागते हुए उतरने लगे।

जब देवी का स्थान और उसके ऊपर खड़े दोनों पेड़ों की फुनगी तक आंखों की ओट हो गई, तब उन्होंने रुककर बूट पहने, और फिर धीरे-धीरे उतरते हुए ऐसा मार्ग खोजने लगे जिससे गांव में से होकर न जाना पड़े, शिखर के दूसरे मुख से ही वे उतर सकें।

गांव मील-भर पीछे छूट गया। सेवों के बगीचे फिर शुरू हो गए थे। कहीं-कहीं कोई मधु पीकर अघाया हुआ मोटा-सा काला भौंरा प्रोफेसर साहब के कोट से टकरा जाता था; कभी कोई तितली आकर रास्ता काट जाती थी। सूर्य की धूप लाल हो गई थी—ये सब अपना-अपना ठिकाना खोज रहे थे। प्रोफेसर साहब भी अपने ठिकाने की ओर जा रहे थे—उनका हृदय आह्लाद से भर रहा था। उनका पहला ही दिन कितना सफल हुआ था ! कितना सौन्दर्य उन्होंने देखा था, और कितना सौन्दर्य, बहुमूल्य सौन्दर्य उन्होंने पाया था। कुल्लू का अनिर्वचनीय सौन्दर्य—वास्तव में वह देवताओं का अंचल है···

उस समय प्रोफेसर साहब के भीतर जो कुल्लू-प्रेम का ही नहीं, मानव-प्रेम का, संसार-भर की शुभेच्छा का रस उमड़ रहा था, उसकी बराबरी कुल्लू के प्रसिद्ध रस-भरे सेब भी क्या करते ! प्रोफेसर साहब की स्नेह उंड़ेलती हुई दृष्टि के नीचे वे सेब मानो पककर, रस से और भर जाते थे, उनका रंग कुछ और लाल हो जाता था। कितने रस-गद्गद हो रहे थे प्रोफेसर साहब !

सेब के बाग में फिर कहीं धमाका हुआ। प्रोफेसर साहब ने देखा, एक लड़का उन्हें देखकर शाख से कूदा है, उसके कूदने के धक्के से फलों से लदी हुई शाख भी टूटकर आ गिरी है।

प्रोफेसर साहब ने रौब के स्वर में कहा, "क्या कर रहा है?"

लड़के ने सहमकर उनकी तरफ देखा—वही लड़का था। हाथ का थोड़ा-सा खाया हुआ सेब वह कोट के गुलूबन्द के भीतर छिपा रहा था।

प्रोफेसर साहब के तन में आग लग गई। लपककर बालक के कोट का गला उन्होंने पकड़ा, झटका देकर सेब बाहर गिराया, दो तमाचे उसके मुंह पर लगाते हुए कहा, "बदमाश, फिर चोरी करता है! अभी मैं डांटके गया था, बेशर्म को शर्म भी नहीं आती!"

उन्होंने लड़के को छाती से धक्का दिया। वह लड़खड़ाकर कुछ दूर जा पड़ा, गिरने को हुआ, संभल गया; फिर एक हाथ से कोट को वहीं से थामकर जहां प्रोफेसर साहब ने धक्का दिया था, एक दर्द-भरी चीख मारकर रो उठा।

चीख सुनकर प्रोफेसर साहब को कुछ शान्ति हुई, कुछ आनन्द-सा हुआ। विद्रूप से उन्होंने कहा, "क्यों, दुखती है छाती? और छिपाओ सेब वहां पर!"

बात में भरे हुए तिरस्कार को और तीखा बनाने के लिए उनके हाथ ने उसका अनुकरण किया, उठकर तेज़ी से प्रोफेसर साहब के ओवरकोट के कालर में घुसा।

एकाएक प्रोफेसर साहब पर मानो गाज गिरी। एक चौंधिया देनेवाला आलोक क्षण-भर उनके आगे जलकर एक वाक्य लिख गया, 'इसने तो सेब चुराया है, तुम देवस्थान लूट लाए!'

सहमे हुए, स्तम्भित-से प्रोफेसर साहब क्षण-भर खड़े रहे, फिर धीरे-धीरे उलटे पांव गांव की ओर चल पड़े।

तर्क उन्हें सुझाने लगा कि यह बेवकूफी है, उनकी दलील बिलकुल गलत है, तुलना आधारहीन है, लेकिन ये न जाने कैसे इस तर्कबुद्धि की प्रेरणा के

प्रति बहरे हो गए थे। जैसे-जैसे भीतर कोलाहल बढ़ने लगा, उसे रोक रखने के लिए उनकी गति भी तीव्रतर होती गई···जब वे आंधी की तरह गांव में से गुज़र रहे थे तब घर जाता हुआ प्रत्येक व्यक्ति कुछ विस्मय से उनकी ओर देखता, और उन्हें लगता कि वे सब उनकी छाती की ओर ही देख रहे हैं, जैसे उस काले ओवरकोट की ओट में छिपी हुई देवमूर्ति को, और उसके भी पीछे प्रोफेसर साहब के दिल में बसे हुए पाप को, वे खूब अच्छी तरह जानते हैं······

अंधेरा होते-होते वे मन्दिर पर पहुंचे। किवाड़ एक ओर पटककर उन्होंने मूर्ति को यथास्थान रखा। लौटकर चलने लगे, तो आसपास छाए हुए और अब अंधेरे में भयानक हो गए सुनसान ने उन्हें फिर सुझाया कि वे एक निधि को नष्ट कर रहे हैं, लेकिन न जाने क्यों उनके मन में शान्ति उमड़ आई; उन्हें लगा कि दुनिया बहुत ठीक है, बहुत अच्छी है।

देवीसिंह

"बाबूजी, कुछ मैंगज़ीन खरीदेंगे ?"

मिस्टर अस्थाना ने उसका सवाल नहीं सुना। सवाल तो दूर, किसीका जवाब सुनना भी उन्हें गवारा नहीं होता। अपनी ही बात उन्हें कितनी प्रिय है, यह मैं अक्सर सोचा करता हूं। मुझसे बोले, "तुम्हारी दलीलें सब वैसी होती हैं। तुम, एक आदमी के प्रयास को देखकर ही मुग्ध हो जाते हो; तुम्हें यह दीखता ही नहीं कि एक आदमी कुछ नहीं, एक आदमी को 'इस्ट्रगिल' कोई माने नहीं रखती, असल चीज़, वर्गों का संघर्ष है !"

जवाब देने की व्यर्थता जानते हुए भी मैं कुछ कहता, पर लड़के ने फिर पुकारा, "बाबूजी, कुछ मैगज़ीन खरीदेंगे ? नई आई हैं कई एक···"

और मैं क्षण-भर उसे देखता रह गया। किसी तरह मैंने कहा, "अरे, देवीसिंह, तुम !!" और एक बार फिर सिर से पैर तक उसे देख गया। उसने कुछ आहत अभिमान के भाव से कहा, "हां, बाबूजी, मैं दिन में स्कूल में पढ़ता हूं, शाम को अखबार बेचता हूं।"

मिस्टर अस्थाना से मैंने कहा, "इसकी कहानी आप जानते, तो आपकी बात का जवाब आपको खुद मिल जाता।"

"हुंः !"

हां, वह 'हुंः' करके बात उड़ा दे सकते हैं। पर मेरी स्मृति में सहसा कई बातें कांटे-सी उभर आईं। कोई दो साल पहले की बातें, जब मैंने देवीसिंह को पहले-पहल देखा था और फिर उसका नाम जाना था।

फैंसी बाज़ार के लम्बे बरामदे में से होता हुआ मैं चला जा रहा था। जहां-तहां कंघी-शीशे, चादर-तौलिये और फीते-तस्मे बेचनेवाले बरामदे के

खंभों से लगे बैठे थे। उनके बीच में से गुज़रना वैसा ही था जैसे सागर के किनारे सूखती सीपियों के बीच में से होते हुए जाना। एक ओर सागर-सी दुकानें, जिनसे लुभावने आलोक की लहरियां जब-तब आकर बरामदे को सींच जाती थीं, और दूसरी ओर जन-संकुल···

तभी एक खंभे के पीछे से एक टेढ़ी-मेढ़ी छाया ने लपककर हाथ बढ़ाए और एक बेमेल स्वर में कहा, "बाबूजी, एक अधन्ना दोगे ?"

स्वर तो बेमेल था ही, क्योंकि भिखारियों के स्वर में दीनता होती है, ऐसा सहज अपनापन नहीं, और अधन्ना मांगनेवाले भिखारी भी मुझे याद नहीं पड़ता मुझे कभी मिले हों—या तो पैसा मांगते हैं, या इकन्नी।

भिखारियों को पैसा देने या न देने का अर्थशास्त्र मैं नहीं जानता। मिस्टर अस्थाना कभी-कभी समझाने लगते हैं कि यह दया-बया की भावना गलत चीज़ है और भिखारियों को बढ़ावा देना वर्ग-संघर्ष को कमज़ोर बनाना है। पर मैं अधिक ध्यान नहीं देता। मैंने मान लिया है कि मानव के प्रति आर्द्रता को भी सुखा डालना अगर अक्लमन्दी है तो वैसी अक्लमन्दी को दूर से सलाम कर लेना ही ठीक है। और सौभाग्य से उस समय मिस्टर अस्थाना साथ थे भी नहीं।

मैंने लड़के को सिर से पैर तक देखा या सच कहूं तो सिर से धड़ तक; क्योंकि उसका धड़ ही बरामदे पर टिका था। हाथों में थामी हुई लकड़ी की घोड़ियों के सहारे, भुजाओं पर बल देकर वह घिसटता हुआ चलता था। टांगें थीं तो, पर सूखी हुई और निर्जीव। देखते ही ज्ञात हो जाता था कि शैशव में विटामिन 'सी' की कमी और उसके साथ-साथ 'पोलियो' या शिशु-कालीन लकवे से उसका अध: शरीर बेकार हो गया होगा। लेकिन शरीर की सहज क्षति-पूरकता के कारण उसका धड़ भी सुगठित था, और उसके कंधे अकाल यौवन की पुष्ट मांस-पेशियों को सूचित कर रहे थे। और उसके चेहरे पर एक दृढ़ता और आत्मविश्वास की झलक थी।

मैंने लड़के से पूछा, "अधन्ना क्यों ? और अगर इकन्नी हो तो ?"

उसने मानो मुझपर एहसान करते हुए कहा, "तो आपकी इकन्नी ही

ले लेंगे।"

मैंने जेब में हाथ डाला। वहां इकन्नी भी नहीं, दुअन्नी थी। उसीके लहजे के अनुकूल, मैंने भी मानो अपनी सफाई देते हुए कहा, "अरे मेरे पास तो सिर्फ दुअन्नी है!"

उसने मेरी ओर कुछ सन्दिग्ध भाव से देखा—कहीं मैं उसे बना तो नहीं रहा हूं? फिर तनिक मुस्कराकर बोला, "चलिए, दुअन्नी ही दे दीजिए—काम आ जाएगी।"

दुअन्नी देकर मैं उससे उसका नाम, पता और इतिहास पूछने लगता, तो कोई अजब बात न होती। मैंने अक्सर लोगों को ऐसा करते देखा है। शायद किसीकी करुण कहानी सुनकर अपने इकन्नी-दुअन्नी के बलिदान की इयत्ता बढ़ जाती है। पर मैं चाहता भी तो उसने मौका नहीं दिया। दुअन्नी लेते ही उसका हाथ नीचे पड़ी थोड़ी पर टिका, देह का भार उसपर साध-कर वह मुड़ा और इस फुर्ती से खंभे की ओट हो गया, कि मैं भौचक-सा रह गया। साथ ही ओट से उसके कंठ का स्वर मैंने सुना, "अबे हो गया बे! अबे ले आ बे—यहीं ले आ!"

मेरा कौतूहल उचित था या नहीं, सो मैं क्या जानूं, पर मैं खंभे की ओट रहकर आगे की बातों पर कान लगाए रहा।

उसीके समवयस और एक लड़के की आवाज़ आई, "क्या हो गया बे, देवीसिंह?"

"बस देखता रै—अभी पता लग जाएगा..."

और एक तीसरा स्वर, निकट आता हुआ, "अबे साले, तू बता दे।"

"देख बे, गाली-वाली मत दे, नहीं तो अभी ठीक कर दूंगा--हां!"

और फिर दूर किसीकी ओर उन्मुख होकर देवीसिंह ने आवाज़ दी, "ले आ बे, जल्दी ले आ, इनको भी दिखा दीजो!"

क्षण-भर बातचीत स्थगित रही। फिर एक चौथा, कुछ रूखा पछाहीं स्वर बोला, "अबी देक्खो।"

देवीसिंह ने बड़े उत्कंठ स्वर से कहा, "अच्छा वाला दिखाना—पूरा!

बीच में कुछ छोड़-छाड़ मत जाना, हां !" और उसने एक चीत्कार किया जैसा सामने मधुर भोजन आने पर कभी लोग करते हैं।

रूखा स्वर कुछ और रुखाई से बोला, "चार तो पैस्से दोगे।"

देवीसिंह ने डपटकर कहा, अबे चार क्यों बे—अब तू आठ ले लेना, पर देखेंगे हम पूरा।" फिर कुछ रुककर, "देख बे, तू भी कंगाल है, और हम भी कंगाल हैं। तू जो तुझ पे आता है दिखा दे, और जो हमसे बनेगा दे देंगे, समझा ? और इससे ज़्यादा बाश्शा भी क्या दे देवें हैं ?…'क्यों बे, ठीक कही कि नहीं ?"

मैंने तनिक झांककर देखा। रूखे स्वर के मालिक ने कन्धों पर से बहंगी उतारकर दो पिटारियां ज़मीन पर टिका दी थीं। उसकी रूखी लटें उसके थके और धूल-भरे चेहरे से चिपक रही थीं। एकाग्र होकर वह पिटारियां खोलकर एक मैली गूदड़ी की ओट में तरह-तरह की चीजें इधर-उधर जमा रहा था…

उस दिन मैंने इतना ही देखा था। यों यह भी काफी असाधारण और स्मरणीय था ही। क्रमशः उसके बारे में और भी कुछ ज्ञात हुआ। लेकिन ज्ञान उसे कहना चाहिए जिससे नई दृष्टि मिले, नहीं तो जानकारियों का कोई अन्त थोड़े ही है। देवीसिंह के माता-पिता नहीं थे, कम से कम उसके सम्पर्क में नहीं थे, किसी चाचा ने उसे पाला था और फिर शहर के मरु-स्थल में डाल दिया था कि 'जा सके तो कोई हरियाला ठांव ढूंढ़ ले !' किंतु देवीसिंह को जीवन में रुचि थी—अपार रुचि थी—वह हारा हुआ भिखारी नहीं बन सका था…

मुझे बरामदे में वह अक्सर दीख जाता। लेकिन हर बार पैसे नहीं मांगता, मुस्कराकर रह जाता। धीरे-धीरे समझ में आया कि वह किसी एक व्यक्ति से सप्ताह में एक बार से अधिक नहीं मांगता, और समय, मुस्कराकर मानो कह देता है कि हां, मैं जानता हूं आप मेहरबान हैं, जब मुझे ज़रूरत होगी आपसे मांग लूंगा…'

कुछ महीनों बाद वह एकाएक लापता हो गया। उस बरामदे से गुज़रते हुए जब-तब उसकी अनुपस्थिति खटक जाती। पर जल्दी ही मैं उसका भी आदी हो गया···फिर कोई डेढ़ वर्ष बाद ही, उस दिन मिस्टर अस्थाना के साथ जाते अचानक उसे मैगज़ीन बेचते हुए देखा। जब अचम्भा कुछ संभला तो मैंने उसे फिर सिर से पैर तक देखा। अबकी बार धड़ तक नहीं, पैर तक ही, क्योंकि अब वह खड़ा था। उसकी दोनों टांगें लोहे और लकड़ी के एक चौखट में कसकर सीधी कर दी गई थीं—अभी उनमें ज़ोर इतना नहीं था कि वह केवल उन्हींके सहारे खड़ा हो सके, पर वह चल तो सकता था, और अब उसके चेहरे पर आत्मविश्वास और भी स्पष्ट था·· पूछने पर मालूम हुआ कि उसने पैसे जुटाकर अपने इलाज का प्रबन्ध किया था, पोलियो रोग के एक विदेशी विशेषज्ञ के पास छः महीने बिताए थे, और अब अपने भविष्य के बारे में आश्वस्त था···अब जो हो, वह भीख नहीं मांगेगा और मैगज़ीनों के बिक्री के सहारे पढ़-लिख भी लेगा······

एक दिन मैंने पूछा, "देवीसिंह, मदारी का तमाशा अब नहीं देखते?"

उसने हंसकर उत्तर दिया, "बाबूजी, सब तो तमासा ही तमासा है।"

इस अकाल परिपक्वता से कुछ सहमकर मैंने पूछा, "क्या मतलब?"

वह बोला, "पहले मैं ज़मीन पर रेंगता था, कुछ भी देखने के लिए मुझे गर्दन उठानी पड़ती थी। तब हमेशा ऐसे तमासे की तलास रहती थी जो बिना गर्दन थकाए देख सकूं। अब तो खड़ा-खड़ा सब देखता हूं। सभी तमासा है।" फिर कुछ रुककर, ज़रा शरारत-भरी हंसी से, "देखिए न, कैसे-कैसे बाबू साहब आते हैं और क्या-क्या मैगज़ीन खरीदते हैं।"

उस दिन मैंने सोचा था, इस समय कहीं मिस्टर अस्थाना साथ होते! पर अच्छा ही हुआ नहीं थे। नहीं तो सारी बात सुनकर उन्हें केवल वर्ग-युद्ध का और प्रमाण ही दीखता, क्योंकि नहीं तो विटामिन 'सी' की कमी ही क्यों हो, और पोलियो ही क्यों हो?

ऐसे भी लोग हैं जो मानते हैं कि अभाव में भी अपने को उपयोगी बनाना, पंगु होकर भी समाज में अपने अस्तित्व को सार्थक बनाना, केवल पलायन है। उनके लिए वर्गों का संघर्ष ही सब कुछ है, व्यक्ति का आत्मदान कुछ नहीं। वे यह नहीं देखते कि आत्मदान से पलायन, सबसे बड़ा पलायन है—वह जीवन के रस से पलायन है—किस मरुभूमि की ओर, कौन जाने !

नारंगियां

उस दिन जव मोहल्लेवालों ने देखा कि हरसू ने मोहल्ले के वाहर की, नाम को पक्की, पर वास्तव में धूल-भरी सड़क पर पुग्राल ग्रौर वोरिये का टुकड़ा बिछाकर उसपर नारंगियां सजाकर दुकान कर ली है, तो सबके सब विस्मय से ताकते रह गए। हरसू, ग्रौर दुकान !

जव से हरसू ग्रौर परसू दोनों भाई ग्रचानक ग्राकर मुहल्ले के सिरे की पुरानी दीवार की एक मेहराव के नीचे घर वनाकर जम गए थे, तव से किसीने उनको काम करते हुए या काम की तलाश भी करते हुए कभी नहीं देखा था। रिफ्यूजी दूसरे मोहल्लों की तरह इस मोहल्ले में भी ग्रनेकों ग्राए थे, लेकिन सभी बहुत जल्द इस कोशिश में जुट गए थे कि वे 'शरणार्थी' न रहकर 'पुरुषार्थी' कहलाने के ग्रधिकारी हो जाएं। सभीने कुछ न कुछ जुगत कर ली थी या गुज़र-वसर का कोई वसीला निकाल लिया था। लेकिन हरसू ग्रौर परसू ज्यों के त्यों बने हुए थे। किसीने उन्हें कभी भीख मांगते नहीं देखा, चोरी करते भी कम से कम देखा तो कभी नहीं, यद्यपि यह सब समझते थे कि दोनों भाई ग्रगर कुछ लेकर नहीं ग्राए हैं ग्रौर कुछ कमाते भी नहीं हैं तो चोरी के बिना कैसे काम चलता होगा। हां, चोर जैसे वे दीखते भी नहीं थे, किसीके सामने उनकी ग्रांखें नीची नहीं होती थीं ग्रौर दोनों का वर्ताव कुछ ऐसा शालीनता-भरा होता था कि किसीको कुछ पूछने का साहस भी नहीं होता था।

शालीनता के स्तर में कुछ गिराव कभी दीखता था तो दोनों भाइयों के ग्रापस के व्यवहार में। यह नहीं कि वे ग्रापस में लड़ते-झगड़ते थे—इतना ही कि परसू हमेशा हरसू को ताने देता रहता था या जैसे भी सम्भव हो कोंचता रहता था। हरसू प्राय: दीन-भाव से सब कुछ सह लेता था, लेकिन

कभी-कभी वह भी बिना अपना स्वर ऊंचा उठाए जला-भुना उत्तर दे देता था। पछांही लोगों में ऐसी बातों पर फौरन तू-तड़ाक और मारपीट की नौबत आ जाती है, और रिफ्यूजी तो और भी आसानी से जिसपर-तिसपर हाथ छोड़ बैठते हैं; इसलिए मोहल्लेवाले इन दोनों भाइयों के इस तनाव-भरे सहास्तित्व पर और भी अचम्भा किया करते थे।

खैर, अब हरसू ने नारंगियों की दुकान लगाई है, और परसू दुकान से कुछ दूर एक पुलिया पर बैठा हुआ बड़ी अवज्ञा से दुकान की ओर हरसू की ओर देख रहा है।

एक-एक करके मोहल्ले के दो-चार बच्चे नारंगियों की दुकान के आस-पास इकट्ठे हो गए हैं। नारंगियों का आकर्षण तो है ही, लेकिन उससे अधिक इस बात का कौतूहल कि दुकान हरसू की है।

एक छोटी लड़की दूसरों से कुछ आगे बढ़कर, एक हाथ से अपने झबले का छोर उठाकर मुंह में खोंसती हुई दूसरे हाथ से मानो अतर्कित भाव से नारंगियों की ओर इशारा करती है, और फिर हाथ समेटकर टुकुर-टुकुर हरसू की ओर देखने लगती है।

"लेगी ?" हरसू पूछता है।

लड़की कुछ उत्तर दे, इससे पहले परसू बड़बड़ाता है, "हां दे दे, दुकान उठाकर दे दे उसको ! क्या ऐसे ही दुकान चलाएगा ?"

हरसू भाई की बात को अनसुनी-सा करता हुआ लड़की से कहता है, "लेगी तो जा, घर से पैसे ले आ। चार-चार पैसे की एक है।"

"तो ऐसे दुकान चलाएगा तू। छोटे बच्चों को फुसलाकर घर से पैसे मंगाकर मुनाफा करेगा। बच्चों को बिगाड़ते शर्म नहीं आती ?"

भाइयों में झगड़ा हो रहा है या नहीं, बच्चों की समझ में नहीं आता। क्योंकि ऐसे सम स्वर से और तटस्थ भाव से झगड़ा होते उन्होंने कभी देखा नहीं है। लेकिन वातावरण में कहीं पर तनाव है यह वे समझते हैं। लड़की एक बार हरसू और एक बार परसू की ओर देखती है और रुआंसी-सी हो जाती है।

हरसू एक क्षण के लिए उसकी ओर देखता है और फिर दो नारंगियां उठाकर लड़की को दे देता है।

"ले, रो मत, ले जा। पैसे जब होंगे तब दे देना—नहीं तो न सही।"

परसू असम्पृक्त भाव से आकाश की ओर देख रहा है, मानो उसने यह देखा न हो, न उसे इस सबसे कोई मतलब हो। लेकिन वही सम स्वर कहता है, "हां-हां, बाप का माल है, दे दे। कल देखूंगा कहां से और माल लाएगा और दुकान चलाएगा। बड़ी फ़ैयाज़ी दिखाने चला है। सब साले रिफ्यूजी जैसे घर के नवाब होते हैं।"

हरसू एक बार भाई की ओर देखता है और फिर चुप लगा रहता है। लड़की चली जाती है।

बोरिया झाड़कर फिर बिछा दिया गया है। नारंगियां कपड़े से रगड़कर चमका दी गई हैं। ऊपर नीम की पत्तियों की हलकी सरसराहट सुनते हुए हरसू सोचता है, उसका दिन इसीके सहारे जैसे-तैसे कट जाएगा।

नारंगियों के आसपास दो-चार बच्चे फिर इकट्ठे हो गए हैं। नारंगियों का चाव तो चिरन्तन है, दुकान के नयेपन का कौतूहल भी अभी मिटा नहीं है।

"भीड़ क्यों करते हो बच्चो, नारंगियां लेनी हों तो घर जाकर पैसे ले आओ।"

परसू अपनी पुलिया पर से सुन रहा है। देखने की ज़रूरत उसे नहीं है। वह मानो अतीन्द्रिय चक्षुओं से सब कुछ देख लेता है। बल्कि सब कुछ पहले से ही उसका देखा-देखाया है। व्यंग्य की एक रेखा उसके होंठों को तिरछा कर जाती है, बस इतना हरसू देख लेता है। परसू जानता है कि वह देख लेगा—उसके द्वारा देखी जाने के लिए ही वह वहां तक लाई गई है।

बच्चों की टोली में से दो-एक अलग होकर चले जाते हैं। थोड़ी देर बाद एक लौटकर आता है। उसकी चाल ही बता रही है कि उसकी मुट्ठी में इकन्नी है। उसके पीछे-पीछे छः और अधनंगे बच्चे चले आते हैं, और वे

भी जानते हैं कि उनके अगुआ की मुट्ठी में पैसे हैं। पैसों से उन्हें कोई सरोकार नहीं है, लेकिन अगुआ की मुट्ठी का पैसा आगे जो काम कर सकता है उसमें उनकी दिलचस्पी जरूर है।

इकन्नी और नारंगी का विनिमय हो जाता है। बच्चा विजय से भरा हृदय, और नारंगी से भरी मुट्ठी लिए हुए एक ओर को हटकर नारंगी छीलकर खाने लगता है।

दुकान पर जो करिश्मा होनेवाला था वह हो चुका, और वहां अब देखने को कुछ नहीं है। दूसरे बच्चों की आंखें हरसू की साबुत नारंगियों से हटकर अगुआ के हाथ की छिलती हुई नारंगी पर अटक जाती हैं। कैसे उस नारंगी से फांक अलग होती है और धीरे-धीरे उठकर अगुआ के मुंह में चली जाती है, कभी इधर-उधर नहीं जाती, यह कितना बड़ा अचरज है!

परसू गरदन ज़रा एक ओर को मोड़कर कहता है, "अबे इन सबको भी कह न, घर जाकर पैसे ले आएं। गाड़कर रखे होंगे पैसे इन्होंने, सब लाकर तुझे दे देंगे।"

हरसू तिलमिलाकर बच्चों से कुछ कहने को होता है, लेकिन फिर रुक जाता है। एक बार बच्चों को सिर से पैर तक देखता है और आंखें झुका लेता है। बच्चे अधनंगे हैं, इसका ठीक अर्थ अब उसके मन में बैठता है—इस मोहल्ले में बच्चों को निचले आधे शरीर में तो यों भी कुछ पहनाने का रिवाज नहीं है, इसलिए अधनंगे का मतलब यही हो सकता है कि ऊपर का आधा शरीर भी ढका नहीं है। हरसू आंखें झुकाए गट् से थूक का एक घूंट निगलता है। थूक का स्वाद कुछ नहीं होना चाहिए, पर हरसू के लिए वह घूंट कितना कड़वा है यह उसके दबे होंठों से दीख जाता है।

हरसू और परसू की खींचातानी की ओर बच्चों का ध्यान नहीं है। वे एकटक फांक-फांक गायब होनेवाली नारंगी के अचरज को ही देख रहे हैं।

परसू कानी आंख से हरसू को देखता है, मानो उसे तौल रहा हो। फिर मुंह बच्चों की ओर फेर लेता है।

"लड़के, अपने साथियों को भी एक-एक फांक दे दे।" अगुआ की ओर

उन्मुख होकर परसू का स्वर कुछ कम रूखा हो गया है, "साथियों के साथ बांटकर खाना चाहिए।"

अगुआ अगुआ है, और इस वक्त नारंगी का मालिक भी है। परसू की ओर देखकर उद्धत स्वर से कहता है, "क्यों दे दूं ? मैंने पैसे देकर नहीं खरीदी ?"

परसू वहीं पुलिया पर लेटे-लेटे मुंह दूसरी ओर करके थूकता है। "अबे हरसू, सुनीं नवाबज़ादे की बातें ! पैसे देकर खरीदी है ! पैसा तेरे बाप ने कहां से खरीदा है भला ?" लेकिन फिर परसू का स्वर कुछ धीमा होकर मानो भीतर को मुड़ जाता है। "लेकिन बच्चे को क्या डांटना ! बाप मिलता तो पूछता, कहां से ब्लैक करके कमाया है पैसा, और क्यों लड़के को अभी से ऐसा कमीनापन सिखाया है।" फिर कुछ रुककर, बदले हुए स्वर में, "अबे हरसू, तू ही दे दे न सबको एक-एक नरंगी—देख, बेचारे कैसे मुंह ताक रहे हैं ! बच्चों को बेवसी सिखाना अच्छा नहीं होता।"

हरसू अचकचाकर भाई की ओर देखता है। बात निस्संदेह उसीसे कही गई है, लेकिन उसमें एक ऐसा अलगाव है कि उसका जवाब कोई भी दे दे—या न भी दे—परसू को कोई फर्क नहीं पड़ेगा। हरसू ज़रा साहस बटोरकर कहता है, "कहां से दे दूं सबको ? फिर तू ही कहता है कि दुकान कैसे चलेगी और कल को माल कहां से खरीदकर लाऊंगा।"

"अबे, बस, यही है तेरा रिफ्यूजी का जिगरा ? अबे, जानता नहीं, हम सब लोग पीछे बड़ी-बड़ी जायदादें छोड़कर आए हैं। और देखता नहीं, यहां भी कितनों ने फिर जायदादें खड़ी कर ली हैं ? तू ही बता, पहली बार नरंगी खरीदने को पैसा कहां से आया था—या कि नरंगियां तेरे साथ मां की कोख से जनमी थीं ?"

हरसू चुप है। चुप में सौ विरोध समा जाते हैं। बोलते कुछ बनता नहीं है।

"अबे, दे दे न नरंगी—उन्हें ऐसे देखते देख तुझे तरस नहीं आता—शरम नहीं आती ? तू इनसान का बेटा है..."

"तरस तो आता है, परसू—पर पैसा कहां से आएगा ?"

"चल पैसे मैं देता हूं—खिला सबको नरंगियां।" परसू लेटे से आधा-बैठा होकर अपनी फटी जेब टटोलता है और एक अठन्नी निकालकर हरसू की ओर फेंकता है।

हरसू चुपचाप छः नारंगियां उठाकर एक-एक कर बच्चों को बांट देता है। बच्चे झिझकते हुए हाथ बढ़ाकर ले लेते हैं। क्षण-भर अंजुली भरे-भरे अचकचाए-से कभी हरसू की ओर और कभी नारंगी की ओर देखते हैं, और फिर धीरे-धीरे खाने लगते हैं। हरसू टाट के नीचे से टटोलकर एक दुअन्नी निकालता है और परसू की ओर बढ़ाता है, "यह ले अपनी बाकी।"

"क्या ?" परसू अजनबी-सा कहता है। "मेरी बाकी ? बाकी कैसी?"

"तूने अठन्नी दी थी, दो आने बाकी तेरे बचे कि नहीं ?"

"मेरे दो आने ! हुंह ! मेरे दो आने ! मेरे बाप के हैं ! जा ये भी उस छोकरे को दे दे जो अपने पैसे से नरंगी खरीदता है; कह दे उसे जाकर यह भी अपने बाप को दे दे !"

हरसू दबे स्वर से कहता है, "उसने क्या बिगाड़ा है, वह तो बच्चा है; बाप जैसा हो···"

"हां, बे, ठीक कहता है तू। अच्छा, तो रख, सिगरेट-पानी कर लेना। या नहीं, आगे भी तो ऐसे बच्चे आएंगे—उन्हें दे देना। नहीं तो दुकान तेरी कैसे चलेगी ? लोग भी क्या कहेंगे—कि रिफ्यूजी बच्चा दुकान करने लगा तो दिल-आत्मा भी बेचकर खा गया।"

हरसू बोला, "तो तेरे दो आनों से सदावर्त चल जाएगा ? और दो नरंगियां खिला दूंगा, फिर···"

"अरे तो हम मर तो नहीं गए हैं। साले, रिफ्यूजी बनकर आया है तो हौसला रखना सीख। दिल बढ़ने से कोई नहीं मरता, उसके सिकुड़ने से ही मरते हैं सब—डाक्टर साले चाहे जो बकवास करते रहें।"

हरसू दुकान करता है, आज उसने सात नारंगियां बेची हैं और माल के सात आने के अलावा दो आने घेलुए में पाए हैं। उसकी आंखें

नारंगियों की तरह गूंगी और घुटी हुई हो गई हैं और उसके कान नीम की सरसराहट पर अनसुनते टिक गए हैं।

और परसू के पहले कई बार ऐसे भी दिन आए हैं, जब उसकी दोनों जेवों में दो-दो अठन्नियां हुई हैं और उसने नहीं जाना कि क्यों, और ऐसे भी जब किसी जेब में कुछ नहीं है और वह नहीं सोचता कि तो फिर क्या ! वह वहीं पुलिया पर फिर लेटकर नीम के ऊपर छाए आसमान की ओर देखने लगता है। आसमान जैसी ही खाली, गहरी और अन्तहीन हैं उसकी आंखें।

हजामत का साबुन

दुकान में घुसा तो छोटे लाला नौकर को पीट रहे थे।

लाला की दुकान से मैं जब-तब थोड़ा-बहुत सामान लेता रहता हूं। इसलिए बड़े लाला और छोटे लाला और उनके दोनों नौकरों को पहचानता हूं। यों लाला कहने से जो चित्र आंखों के सामने आता है उसके चौखटे में दोनों में से कोई ठीक नहीं बैठता था। मुटापा तो दोनों में इतना था कि नाम के साथ मेल खा जाए, लेकिन इससे आगे थोड़ी कठिनाई होती थी। दोनों प्रायः सूट पहनकर दुकान पर बैठते थे, दुकान का फर्नीचर लोहे का था और मेज़ पर कांच लगा हुआ था। दुकान में किराने से लेकर परचून तक की चीजें तो थीं ही, इसके अलावा साज-सिंगार का सामान, अंग्रेजी दवाइयां वगैरह भी थीं और पिछले दो-एक वर्ष से दुकान को स्पिरिट और शराब रखने का भी परमिट मिल गया था। मुझे इस तरह की बहुधन्धी दुकानों से कोई विशेष प्रेम हो, ऐसा नहीं है, लेकिन दुकान बस-स्टैंड के निकट पड़ती थी और दफ्तर से घर लौटते समय वहां से कुछ खरीद ले जाने में सुभीता था।

थोड़ी देर मैं असमंजस में खड़ा रहा। लाला पीटने में इतना व्यस्त था तो नौकर का पिटने में और अधिक व्यस्त होना स्वाभाविक था। ग्राहक की तरफ ध्यान देने की फुरसत किसीको नहीं थी। समझदारी की बात तो यही थी कि वहां से चल देता और जो खरीदारी दूसरे दिन तक न टल सकती वह कहीं और से कर लेता। इससे भी बड़ी समझदारी की बात यह है कि जहां हाथापाई हो रही हो वहां नहीं ठहरना चाहिए। लेकिन मुझमें दोनों तरह की समझदारी की कमी है और हमेशा रही है। आज से कल तक टालने की बात तो समझ में आ सकती, लेकिन आदमी को पिटता

हुआ देखकर समझदारी-भरी उपेक्षा मेरे बस की नहीं है।

लाला के मोटे थुलथुल हाथ का थप्पड़ जो नौकर के गाल और आड़े आए हुए हाथ पर पड़ा तो मेरे मन में तीखी प्रतिक्रिया हुई, 'ओ लाले के बच्चे, क्यों पीटता है !'

ऐसी मेरी भाषा नहीं है, गुस्से में भी नहीं। पर उस समय लाला को 'लाला का बच्चा' कहना ही मुझे ठीक जान पड़ा, या ऐसे कह लीजिए कि लाला के बच्चे के नाम से ही उस मोटे और भोंडे रूप को मैं कोई संगति दे सका।

लाला ने फिर एक थप्पड़ मारा और चिल्लाकर कहा, "बोल, तूने मुझे टेलीफोन क्यों नहीं कर दिया ?"

मेरी मुट्ठियां भिच गईं। टेलीफोन न करने पर नौकर को मारना मुझे सहन नहीं हुआ। मुझे पूरा विश्वास हो गया कि नौकर को भी वह सहन नहीं होगा। मैंने जैसे मान लिया कि अभी-अभी नौकर भी वापस एक थप्पड़ लाला के—लाला के बच्चे के—मुंह पर जड़ देगा।

पर वह हुआ नहीं। नौकर ने वह थप्पड़ भी चुपचाप खा लिया। और उसके बाद भी मार खाता गया और लाला के बच्चे की फटकार सुनता गया।

लाला ने और चीखकर कहा, "बोलता क्यों नहीं—हीरू के बच्चे ?"

तो नौकर का नाम हीरू है। इस तरह थोड़ा-थोड़ा करके परिस्थिति मेरी समझ में आने लगी। घटना कुल जमा यह हुई थी कि छोटे लाला जब दुकान पर आए थे तो नौकर को घर पर लालाइन की सेवा में और उनके छोटे बच्चे की टहल में छोड़ आए थे। इस बीच लालाइन ने नौकर को हुक्म दिया कि दुकान से चावल ला दे। नौकर बच्चे को घर पर छोड़कर दुकान से चावल ले आया। आधे घण्टे के इस अवकाश में बच्चा लालाइन के अनदेखे बाहर निकल गया और पड़ौसी लाला के घर चला गया, जिसके हमउम्र लड़के से उसकी दोस्ती थी। नौकर ने लौटकर जब बच्चे को नहीं देखा, तब उसे और उसके कहने पर लालाइन को चिन्ता हुई। कोई आधे

घण्टे में यह पता लग गया कि बच्चा पड़ोस के घर में ही है, लेकिन इस बीच लालाइन का घबराहट से बुरा हाल हो चुका था। दोपहर को लाला जब खाना खाने घर गए थे तब लालाइन ने उन्हें बता दिया था कि कैसे उन्हें बड़ी घबराहट हुई थी। अब लाला दुकान पर लौटकर नौकर से ज़वाब तलब कर रहे थे कि अगर बच्चा नहीं मिल रहा था तो फौरन उन्हें टेली-फोन क्यों नहीं कर दिया गया कि बच्चा नहीं मिल रहा है। अगर उसको कुछ हो गया होता ?

टेलीफोन लालाइन भी कर सकती थी—या अगर खुद नम्बर मिलाना उन्हें नहीं आता था तो टेलीफोन करने की बात उन्हें भी सूझ सकती थी, यह नौकर ने अभी तक नहीं कहा। पता नहीं उसे सूझा ही नहीं था, या कि मार का डर उसका मुंह बन्द किए हुए था।

लाला ने कांच की मेज़ पर रखे हुए टेलीफोन को उठाकर पकड़ते हुए फिर कहा, "यह साला है किसलिए ? अगर तू···" और फिर एक थप्पड़ हीरू को जड़ दिया।

मैंने बड़ी एकाग्रता से मन में कहा, 'अरे हीरू, तू भी इनसान है। मार लाला के बच्चे को एक थप्पड़ और पूछ इससे कि···'

लेकिन हीरू ने एक और थप्पड़ खा लिया। थोड़ा-सा लड़खड़ाया और फ़िर ज्यों का त्यों हो गया।

आप रेस खेलते हैं ? मैं खेलता तो नहीं, लेकिन घुड़दौड़ भी मैंने देखी है और रेस खेलनेवाले भी, इसलिए पूछता हूं। हारते हुए घोड़े पर दांव लगानेवाले की घुड़दौड़ देखते हुए जो हालत होती है वही हालत मेरी हो रही थी। भीतर दुस्सह उत्तेजना और तनाव और कांपते हुए हाथ और सूखकर तालू से चिपकती ज़बान, और ऊपर से इतना एकाग्र उपशमन का अंकुश कि जैसे अपनी एकाग्रता के बल पर ही हारे हुए घोड़े को जिता दूंगा।

हर उत्तेजना में एक बेबसी होती है। सहसा अपने में उसका अनुभव करके मैंने अपने-आपसे कहा, "यह उत्तेजना क्यों ? क्यों तुम इस सेकंडहैंड

सनसनी का शिकार हुए ? इतना घबरा क्यों रहे हो ? छटपटाहट किस बात की है ?' 'अरे साहब, कुत्तों की दौड़ में मेरा कुत्ता पिछड़ा जा रहा है, दूसरा कुत्ता खरगोश को लपक लेगा !' अरे, तो तुम तो कुत्ते नहीं हो, न तुम खरगोश ही हो—तुम अपने जीवन की उत्तेजना से जूझो, कुत्ते की या खरगोश की उत्तेजना से तुम्हें मतलब ? बल्कि कुत्ता तो उत्तेजित भी नहीं है, वह एकाग्र होकर खरगोश के पीछे दौड़ रहा है। और वह—बिना चेतन भाव से ऐसा सोचे भी—यह जानता है कि उत्तेजना उसकी मदद नहीं करेगी बल्कि उसके काम में बाधक होगी। और खरगोश—खरगोश को तो और भी उत्तेजना के लिए फ़ुरसत नहीं है—जिसके सामने ज़िन्दगी और मौत का सवाल हो उसको ऐसी टुच्ची सनसनी से क्या मतलब ? और तुम, तुम दौड़ देखकर छटपटा रहे हो । बल्कि तुम चाह रहे हो, मना रहे हो कि खरगोश उलटकर कुत्ते पर खिसिया उठे या कि उसे अपने जबड़ों में दबोच ले ! तुम्हारा दिमाग खराब हो रहा है ।'

लेकिन नहीं, नौकर निरा खरगोश नहीं है । वह आदमी है। आखिर वह विरोध में कुछ कह रहा है ।

'मगर लालाजी, मैं तो कक्कू लाला को बीवीजी को सौंप के चला था ।"

हां, नौकर इनसान है। अब वह तन जाएगा। अब वह···

"ऊपर से सामने जवाब देता है ? उल्लू के पट्ठे, साले, सूअर के बच्चे !"

लाला—लाला के बच्चे···हीरू सूअर का बच्चा है और तुम्हारा साला है तो तुम कौन हो, ओ सूअर के दामाद !

लेकिन यह तो मैं मन में कह रहा हूं। और मुझे लाला से मतलब नहीं है। लाला से तो हीरू को मतलब है। मुझे तो नौकर से मतलब है। क्योंकि नौकर जो करे—या मैं जो चाहता हूं कि वह करे—उसके नाते मुझे उसकी इनसानियत से मतलब है। अबे हीरू, तू एक थप्पड़ मार दे लाला के बच्चे को। चाहे धीरे से ही—चाहे असफल ही···.

नहीं, फिज़ूल है। हीरू कुछ नहीं कर रहा है। और मुझे उससे जो मतलब है और उसके नाते इनसानियत से जो मतलब है वह मेरे सामने एक बड़ी-सी गरम-गरम और ठोस ललकार के रूप में आ खड़ा हुआ है। जैसे किसीने एक बहुत गरम निवाला मुंह में रख लिया हो और तुरन्त निगल जाना ज़रूरी हो गया हो।

'मैं भी मारूंगा लाला के बच्चे को!' मैं बढ़कर लाला के बहुत पास आ गया।

कि सहसा हीरू बोला—ऐसे स्वर में जिसको मैं कभी पहचान सकता लेकिन जिसको तुरंत हीरू का मान लेने को मैं लाचार हूं क्योंकि हम तीनों के अलावा चौथा व्यक्ति वहां है ही नहीं :

"मालिक आप माई-बाप हैं। आपका लड़का मेरे अपने बच्चे के बराबर है और मैं उसपर जान देने को तैयार हूं। आप···"

लाला का फिर उठता हुआ बेडौल हाथ हवा में ही रुक गया है। उनकी चुंधी आंखों में कुछ हुआ है जिसने मानो उनके हाथ को वहीं का वहीं जड़ कर दिया है। आंखों और हाथों में ऐसा सीधा क्या सम्बन्ध होता है यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन जैसे हठात् बिजली फेल कर जाने से किसी मशीन का उठा हुआ हथौड़ा आकाश में ही रुक जाए, वैसी-ही हालत लाला की हो गई है।

लाला ने धीरे-धीरे जैसे ज़बरदस्ती हाथ को नीचे झुकाकर मेज़ पर से झाड़न उठा लिया है और वह हाथ पोंछने लगा है।

अब मैं कुछ नहीं कर सकता—लड़ाई तो खत्म हो गई है। इससे पहले ही मार देता तो···

असमंजस में मैंने ज   र की थी उसकी कुण्ठा का गुस्से का रूप ले लेना तो स्वाभाविक था। लेकिन लाला की हाथ पोंछने की हरकत से मुझे और भी गुस्सा आ गया। लाला का बच्चा नौकर को मारकर अब हाथ पोंछता है। चाहिए तो नौकर को जाकर नहाना कि वह इस गलीज़ चीज़ से छू गया है जो लाला बनी फिरती है।

"हां, सा'ब—आपको क्या चाहिए ?"

मुझे ? अच्छी तश्तरी पर रखा हुआ तुम्हारा कटा हुआ सिर !... इस दुकान से अब कभी कुछ लेने का मन नहीं है। यह लाला जैसे इनसानियत के घावों पर जमा हुआ कच्चा खुरण्ड है जिसके सम्पर्क में आने की बात ही घिनौनी जान पड़ती है।...

मैंने कहा, "अब कुछ नहीं चाहिए। हुल्लड़ सुनकर रुक गया था। जो देखा वह मुझे तो बड़ी शरम की बात लगी..."

लाला बगलें झांकने लगा। फिर घिघियाता हुआ-सा बोला, "हां सा'ब, शरम की बात तो है। क्या बताऊं, मुझे गुस्सा आ गया। बच्चे की बात है, आप जानते हैं।" फिर कुछ रुककर, अनिश्चय से, जैसे छोटे मुंहवाले कनस्तर से उंगली से खोदकर घी निकाला जा रहा हो, "वैसे यह थोड़े ही है कि मैं इस नौकर की कदर नहीं करता—उसकी लायल्टी का मुझे पूरा भरोसा है..." फिर सहसा व्यस्त होते हुए, "लेकिन सा'ब, आप बिना कुछ लिए न जाएं—नहीं तो मुझे बड़ा मलाल रहेगा—क्या चाहिए आपको ?"

वह क्या कहानी कभी सुनी थी—बुढ़िया बूचड़ की दुकान में गई तो बूचड़ ने सिर से पैर तक उसको देखकर रुखाई से पूछा, 'तुम्हें क्या चाहिए बुढ़िया ?' गरीबनी बुढ़िया को सवाल बड़ा अपमानजनक लगा—क्या हुआ उसे छोटा सौदा खरीदना है तो ? वह बोली, 'चाहिए ? चाहिए मुझे माल रोड पर हवेली, और तीन मोटरें, और चन्दन का पलंग। लेकिन तुझसे, मियां बूचड़, मुझे चाहिए सिर्फ दो पैसे का सूखा गोश्त।'

मैं थोड़ी देर चुपचाप लाला की तरफ देखता रहा। फिर जैसे मैंने भी अपने भीतर से कहीं खोदकर निकाला, "एक पैकट चाय—छोटा पैकट—और कोई सस्ता हजामत का साबुन।"

बन्दों का खुदा, खुदा के बन्दे

धूल, धूल, धूल···। प्रातःकाल के नाम पर मेहतर के सीढ़ियां उतरने की खटपट, फ्लश के पानी बह जाने के बाद का घूम···घूम एकआध बच्चे का रोना, दो-एक बूढ़े गलों का खंखारना और उबासियां लेना, और इन सबको एक सूत्र में गूंथनेवाली दर्जन-एक झाड़ुओं की रगड़ की आवाज़··· और सायंकाल के नाम पर—

आनन्द ने आंखें मूंद लीं और जैसे किसी विभीषिका की कल्पना से कांप-सा गया। उफ, सभ्य मानव ने क्या बना दिया है उस चिर रहस्यमय विभूति को, जिसे हम जीवन कहते आए हैं। नगरों की सुरक्षितता और कथित व्यवस्था में कैद होकर उसने उस ईश्वर-प्रदत्त जोखम और अव्यवस्था से बचना चाहा है, जोकि वास्तव में जीवन की परिवर्तनशील और निरन्तर आगे ही आगे बढ़ती रहनेवाली प्रवहमान विविधता है···सभ्यताएं आई हैं, ईश्वर के नाम पर उन्होंने नगर बसाए हैं, मनुष्यों के भारी-भारी संघट्ट जुटाए हैं, और अन्त में इतनी भीड़ कर दी है कि वह विचारा ईश्वर ही बहिष्कृत हो गया है।

आनन्द ने क्षण-भर ठिठककर आयासपूर्वक इस विचार-शृङ्खला को भी झटककर तोड़ दिया, और जैसे सौन्दर्य को पा ही लेने के निश्चय से चारों ओर देखा।

चकरौते के ऊपर को यह सड़क घूमती और बल खाती, चीड़ और देवदार और जंगली गुलाब की बड़ी-बड़ी झाड़ियों की आड़ लेती हुई बहुत दूर तक चली गई थी और एक मोड़ के पास घनी छाया में अदृश्य हो गई थी। आनन्द कल ही चकरौते पहुंचा था, पहुंचने के बाद ही उसने गाइड-पुस्तकों में उलट-पलटकर पता लगाया था कि इसी सड़क पर डेढ़-दो मील

जाकर एक ऐसा स्थल आता है जहां से सुदूर बदरीधाम की हिमाच्छादित पर्वतशृङ्ग-मालाएं दीखती हैं। सान्ध्य सूर्य के लाल आलोक में यह दृश्य एक नई भव्यता प्राप्त कर लेगा, यह सोचकर आनन्द तीसरे पहर की लम्बी छायाओं को पैरों तले रौंदता हुआ उधर बढ़ा जा रहा था। चढ़ाई बहुत नहीं थी—उससे दम नहीं फूलता था और जितना आगे झुकना पड़ता था उतना तो विचार की मुद्रा में आदमी अपने-आप ही झुक जाता है। अत-एव आनन्द के विचार-प्रवाह में बाहरी कोई बाधा नहीं थी। किन्तु इसका यह मतलब तो नहीं है न कि आदमी जो कुछ भी जी में आए अनाप-शनाप सोचता ही जाए ? न वह शहर के तंग घरों और तंग दिलों के जीवन के बारे में झूठ-मूठ का दर्शन बघारना चाहता था। उससे परिणाम कुछ नहीं होता, केवल मूड बिगड़ता है। और आनन्द सिद्धान्ततः जानता था कि सौंदर्य-लाभ के लिए ग्रहणशीलता, एक खुलापन आवश्यक है···

अपने विचारों को उसने यत्नपूर्वक ऐसी दिशा में मोड़ना शुरू किया जोकि उसकी समझ में सौन्दर्य-बोध के अनुकूल होती। उसने अपने को याद दिलाया कि वह शहर को पीछे छोड़ आया है, जहां कि मकान-मालिक समूचा घर किराये पर देकर खुद गैराज में रहते हैं ताकि पैसा बचे, जहां मकान-मालकिन नित्य किरायेदारों से लड़ती है कि पम्प का हैंडल इतने ज़ोर से न चलाया जाए क्योंकि उसकी ढिबरियां घिस जाएंगी, जहां दिन में किरायेदारों के बच्चे और रात में स्वयं किरायेदार अपने पड़ोसियों की देहरियों पर बैठकर पेशाब करते हैं, और जहां···लेकिन अब उस शहर की ख़ूबियां क्यों गिनाई जाएं ! शहर तो पीछे रह गया था···अब तो चकरौता है और हिमालय का वह अनिन्द्य, अनवद्य सौन्दर्य जिसका आश्वासन गाइड-पुस्तकों ने दिलाया है···

पक्की सड़क का पाट पहले से कुछ तंग हो गया था। सौन्दर्य का पथ राजपथ नहीं है—जितना ही संकरा होगा उतना ही अधिक भवितव्य की आशा से भरा हुआ। चौड़ी सड़क—'बिछी सड़क, चौड़ी चौरंगी, खड़ी लठ-सी तेरह मंज़िल की बेशर्म इमारत···गद्दे गुल-गुल···बैठे होंगे राजा

थुलथुल···' अथवा कि बहुत लड़ने के बाद खुत्थे हुए हुए और नुचे पंखों को फुलाकर फिर एक-दूसरे को ललाकरनेवाले मुर्गों की तरह आमने-सामने अधफटे और नये विज्ञापन उघाड़ते सिनेमाघर, और दर्शकों की भीड़ें—एक तरफ शानदार चौथे सप्ताह में 'मेरे साजन' तो दूसरी तरफ गलपोलिया का अमर शाहकार 'मर्दमार औरत'—चौड़ी सड़कों से खुदा बचाए ! आनन्द को याद आया कि चकरौते तक में सड़क के उस एकमात्र हिस्से पर, जिसे वास्तव में चौड़ा कहा जा सकता है, यानी चकरौता और कैलाना की सड़कों के सन्धिस्थल पर, उसने जो कुछ देखा वह सब अप्रीतिकर ही था। एक तरफ वहां का एकमात्र आमोद-गृह जिसपर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था 'केवल सैनिकों के लिए,' और उसके नीचे इतराते हुए सैनिक अपनी-अपनी बांह पर एक-एक मेम को सहारे हुए···'केवल सैनिकों के लिए' यों, कि ये मेमें तो व्यक्ति नहीं हैं—ये तो केवल सैनिकों की साज-सामग्री का एक अनिवार्य अंश हैं···और दूसरी तरफ एक छोटा-सा चाय-घर जो गुलाबी रंग की लेस के पर्दों से ऐसे सजाया गया था मानो किसी अच्छे यूरोपीय बंगले का बाथरूम, और जो बाहर के बोर्ड से सूचित कर रहा था, 'केवल यूरोपियनों के लिए'। अजीब प्राणी है मानव। कौए तक को जब रोटी का टुकड़ा पड़ा हुआ दीखता है तो वह उसे उठाने से पहले कांव-कांव करके अपनी बिरादरी को जुटा लेता है। और एक मानव है कि अच्छी चीज़ देखकर सबसे पहले यह सोचता है कि मैं किस-किसको इससे वंचित रख सकता हूं या बहिष्कृत कर सकता हूं···

फिर दार्शनिकता ? आनन्द, याद करो कि तुम चकरौते में हो, जहां की हवा भारत-भर की सबसे अधिक स्वास्थ्यकर हवा है, जहां के रास्ते भारत-भर के सर्वोत्तम सैर के रास्ते हैं···ये उद्धरण गाइड-बुक के हैं तो क्या हुआ ! उस सड़क के सौन्दर्य ने तुम्हें अभी ही अभिभूत नहीं कर लिया है तो क्या ? तुम बढ़ तो रहे हो उधर को, चढ़ तो रहे हो ऊपर, ऊपर, ऊपर, उस छत्र की तरफ जहां से हिमालय का हृदय दीखता है।

सामने आहट सुनकर आनन्द ने आंख उठाकर देखा। दो गोरे उसी

ओर को चले जा रहे थे। उसने अनुभव किया कि अनजाने ही उसकी गति काफी तेज़ हो गई थी। अब उसने गति कुछ और बढ़ा दी ताकि इन सैनिकों से आगे निकल जाए। गोरों से उसे घृणा है। इन कमबख्तों ने भारत के तमाम सुन्दर स्थलों को कुरूप कर रखा है···जिस पहाड़ी स्थल पर जाओ, इन ललमुंहों की छावनियां उसे भद्दा कर रही हैं। अच्छा बहाना है कि ठंड इनके स्वास्थ्य के लिए ज़रूरी है! सहारा के रेगिस्तान में कहां की ठंड है? वहां क्या ये मर जाते हैं? बियर चढ़ाकर सण्डे-से पड़े रहते हैं। और हमने क्या ठेका लिया है कि इनके लिए ठंडी जगह दें? हर जगह छावनी बनाते हैं और फिर उसका अंग्रेज़ी नाम रखते हैं। डलहौजी, लैंसडाउन, कैम्बेलपुर अटपटपुर···कितने दुःख और ग्लानि की बात है कि भारत के अधिकांश सुन्दर स्थलों के नाम विदेशी हों···और तो और हमारी पवित्रतम चोटी गौरीशंकर का नाम इन्होंने एवरेस्ट कर दिया है क्योंकि गौरीशंकर भारत की ही नहीं संसार की उच्चतम चोटी थी। पुराणों ने उसे कैलास धाम कहा तो इन्होंने एक कम ऊंची चोटी को कैलास नाम से पहचान दिया और नक्शों में लिख दिया। फिर हम लोग कैलास से उच्चतर गौरीशंकर की बात कहने लगे तो उन्होंने एक दूसरी चोटी को गौरीशंकर बना दिया। फिर हम लोगों ने तिब्बती नाम जाना तो वह भी एक और चोटी पर चस्पां कर दिया गया···अब अगर हम कोई और भारतीय या कम से कम अनांग्लीय नाम सोचेंगे तो उसे भी 'सी-१' अथवा 'सी-२' अथवा ऐसी ही किसी अब तक अनामा चोटी का नाम बता दिया जाएगा। चोटियां न होंगी तो कथित एवरेस्ट कोई शीशे का पहाड़ तो है नहीं, उसकी ढाल पर पच्चीसों छुटभैया चट्टानें होंगी···सारांश यह कि गोरों से उसे घृणा है, घोर घृणा है। उनके पीछे या बराबर भी वह नहीं चलना चाहता।

लेकिन अब तक तो उनके पैरों की आहट भी आनन्द के पीछे कहीं मौन हो गई थी। आनन्द उनसे बहुत आगे निकल आया था। सड़क के ऊपर की तरफ एक विशालकाय सिन्दूर वृक्ष के नीचे एक लाल टीन की छतवाला बंगला दीख पड़ा, और कुछ आगे बढ़कर उस बंगले से उतरनेवाला रास्ता

सड़क में आ मिला। आनन्द को रस्किन का आक्रोश याद आया—जिस तरह के घर इंग्लैंड के समझदार लोग उन्नीसवीं सदी में भी बर्दाश्त नहीं कर सके थे, उसी तरह के घर बीसवीं सदी में भारत पर थोपे जा रहे हैं।

आनन्द ने कल्पना करनी चाही कि रस्किन उस समय वहां होता तो क्या कहता। लेकिन बंगले के रास्ते से उतरती हुई दो स्त्रियों ने उसकी कल्पना में व्याघात डाला। पाउडर का पलस्तर किए हुए चेहरे, रंगे हुए ओठ—टीन की लाल रंगी हुई छत—जैसा घर वैसी करनी···और आनन्द फिर अपनी कल्पना की ओर लौट गया—रस्किन क्या कहता है···और कहीं रस्किन नहीं, लारेंस होता, बांका मुंहफट लारेंस, तो क्या कहता इन घरों के बारे में—और इन घरनियों के बारे में···कहता कि घरों के पेट में, घरनियों के पेड़ू में जीवन-शक्ति नहीं, भुस भरा है, भुस···

लेकिन बंगला भी पीछे रह गया। एकाएक आनन्द ने एक कांपते-से सन्नाटे का अनुभव किया। उसने अनुमान किया कि अब वह छत्री बहुत आगे नहीं होगी। आगे देखा तो धूप लाल नहीं, पर कुछ भूरी-सी अवश्य हो गई थी, कुछ भूरी-सी और अलसाई-सी; और वृक्षों की छायाएं इतनी लम्बी हो गई थीं कि अपनी ओर के पहाड़ को छोड़कर तलहटी के दूसरी पार के शृङ्गों को छूती-सी जान पड़ती थीं। जैसे कोई माता नींद से चौंक-कर अलसाई हुई बांह बढ़ाकर शिशु को टटोल रही हो पुनः आश्वस्त हो जाने के लिए···आनन्द ने अनुभव किया कि पवन में एक नई शीतलता आ गई है जो उसके नासा-पुटों में भर रही है, और मानो उन्हें प्रहर्षित कर रही है। उसने चकित हिरन की तरह मुंह उठाकर और नथुने फुलाकर हवा सूंघी। उससे मानो उसका जी कुछ हलका हो गया और एक कौतूहल, एक रहस्यमय प्रतीक्षा-भाव उसके मन में जागृत होने लगा···अब बहुत दूर नहीं हो सकती वह छत्री—इसी अगले मोड़ के आगे ही शायद गाइड-बुक में बताई हुई खुली जगह आएगी और उस फर्लांग-भर की हरियाली को लांघ-कर दूसरी पार—उस पार···वह पीछे छोड़ आया है शहर को, चौड़ी सड़कों

को, सिनेमाघरों को, झाड़ुओं से उड़ी हुई धूल को, रंगे हुए घरों को, लल-मुंहे सैनिकों को, गुलाबी पर्दों को, रंगी हुई औरतों को, तमाम रंगी हुई क्षुद्रताओं को—वह बाहर निकल आया है, आगे निकल आया है, द्वार पर खड़ा है मुक्ति के, सौन्दर्य से उर्वर हिम-क्षेत्र के निष्ठावान उन्नत-मस्तक देवदारु वृक्षों के वन के···क्षुद्रता की छूत उससे धुल गई है, एक नये जगत् में वह प्रवेश कर रहा है, जहां उसके नये सखा उसे मिलेंगे, जहां पर्वत-वधुओं के तुषार-किरीट सूर्य के आशीर्वादमय स्पर्श से हेमल हो रहे होंगे, जहां उपत्यकाओं में एक अस्पृश्य, अलौकिक भव्यता प्रवहमान होगी, जहां कुररी के साहसिक आपतन की तन्मयता होगी, जहां मुनाल के फैले हुए पंखों का झलमल इन्द्रधनुष होगा, जहां भवितव्य की प्रतीक्षा से मुग्ध मुनाली रोमांचित देह को संभालती हुई बांके प्रणयार्थियों का रंग-ताण्डव देख रही होगी, जहां स्वच्छ वायु अपने ही आन्तरिक उल्लास को संभाल न पाकर झूम उठती होगी, सूर्य अपने दिन-भर के प्राणोन्मेषकारी उद्योग की सफलता देखकर हंस उठता होगा, जहां रेंगते गिरगिट भी सौन्दर्य के रहस्यमय आवरण में चमक उठते होंगे···

···मुक्ति के द्वार पर, जहां मानव ईश्वर को प्रतिबिम्बित करता है, जहां ईश्वर मानव की शक्ति का प्रक्षेपण हो जाता है, जहां ईश्वर और मानव का साक्षात्कार होता है, जीवन के अन्तिम चरम एकान्त में—निभृत, अवाक् रहस्यमय साक्षात् संगम···किसी चीनी दार्शनिक ने कहा है, "जब मैं आनन्दित होता हूं तब मैं मौन होता हूं···" मौन ही आनन्द की चरमावस्था है, मौन ही परम सत्य है, मौन ही परम चिन्मयता है।

आनन्द ने वह खुली जगह भी पार कर ली थी—सामने हरे रंग से रंगी होने के कारण नीचे की घास से एकप्राण छत्री थी, जिसके अन्दर प्रविष्ट होने पर सामने की ओर खुल जाएगा सौन्दर्य का अन्तिम रहस्य—फट जाएगा उसका झीना आवरण···

तब आनन्द की उद्दीप्त चेतना की अवस्था में तीव्र गति से घटनाएं घटने लगीं।

छत्री के पिछवाड़े के किवाड़ पर खड़िया से बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था, "यहां बैठनेवाले की मां की···"

आनन्द किवाड़ खोल चुका था, लेकिन उसका हाथ अवश हो चला—भटकती-सी, अनिश्चय-भरी आंखें छत्री के अन्दर पड़ी हुई बेंच की पीठ की पट्टी पर टिक गईं—बेंच का रुख परली तरफ को था, सौन्दर्य के रहस्यागार की तरफ को—

आनन्द की अनिश्चित दृष्टि के आगे बेंच की पट्टी पर की अधपढ़े हाथ की लिखावट—आनन्द के हत-निश्चय मन में एक प्रश्न, कि क्यों मैंने यात्रा के अन्त में उस बात की अपेक्षा नहीं की जो यात्रा के साधन रेलगाड़ी के प्रत्येक डिब्बे में मैंने देखी थी, क्यों मुक्ति की कल्पना की उससे जोकि मैं अपने साथ लेकर आया हूं···

'इस बेंच पर बैठनेवाले की···'

शेष बुझ गया था या मन्द पड़ गया था—या लड़खड़ाकर गिरने के से हृत्कंप से दर्शक की आंखें ही मन्द पड़ गई थीं।

'जब मैं आनन्दित होता हूं तब मैं मौन होता हूं—हां, मैं अवाक् होता हूं, अवाक्···निभृत, अवाक्, रहस्यमय साक्षात्कार···मानव का प्रतिबिम्ब ईश्वर, ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानव—बन्दों का खुदा, खुदा के बन्दे···

शरणदाता

"यह कभी हो ही नहीं सकता, देविंदरलालजी !"

रफ़ीकुद्दीन वकील की वाणी में आग्रह था, चेहरे पर आग्रह के साथ चिन्ता और कुछ व्यथा का भाव। उन्होंने फिर दुहराया, "यह कभी नहीं हो सकता देविंदरलालजी !"

देविंदरलाल ने उनके इस आग्रह को जैसे कबूलते हुए, पर अपनी लाचारी जताते हुए कहा, "सब लोग चले गए। आपसे मुझे कोई डर नहीं बल्कि आपका तो सहारा है, लेकिन आप जानते हैं, जब एक बार लोगों को डर जकड़ लेता है और भगदड़ पड़ जाती है, तब फिज़ा ही कुछ और हो जाती है। हर कोई हर किसीको शुबहे की नज़र से देखता है, और खाह-मखाह दुश्मन हो जाता है। आप तो मुहल्ले के सरवरा हैं, पर बाहर से आने-जानेवालों का क्या ठिकाणा है ? आप तो देख ही रहें हैं, कैसी-कैसी वरदातें हो रही हैं..."

रफ़ीकुद्दीन ने बात काटते हुए कहा, "नहीं साहब, हमारी नाक कट जाएगी ! कोई बात है भला कि आप घर-बार छोड़कर अपने ही शहर में पनाहगज़ीं हो जाएं ? हमें तो आपको जाने न देंगे—बल्कि ज़बरदस्ती रोक लेंगे। मैं तो इसे मेज़ारिटी का फर्ज़ मानता हूं कि वह माइनारिटी की हिफाज़त करे और उन्हें घर छोड़-छोड़कर भागने न दे। हम पड़ोसी की हिफाज़त न कर सके तो मुल्क की हिफाज़त क्या खाक करेंगे ! और मुझे पूरा यकीन है कि बाहर की तो खैर बात ही क्या, पंजाब में ही कई हिन्दू भी, जहां उनकी बहुतायत है, ऐसा ही सोच और कर रहे होंगे। आप न जाइए, न जाइए। आपकी हिफाज़त की ज़िम्मेदारी मेरे सिर, बस ?"

देविंदरलाल के पड़ोस के हिन्दू परिवार धीरे-धीरे एक-एक करके

खिसक गए थे। होता यह कि दोपहर-शाम जब कभी साक्षात् होता, देविंदरलाल पूछते, "कहो लालाजी (या बाऊजी या पंडज्जी), क्या सलाह बणायी है ग्रापने ?" ग्रौर वे उत्तर देते, "जी सलाह क्या बणाणी है, यहीं रह रहे हैं, देखी जाएगी—" पर शाम को या ग्रगले दिन सवेरे देविंदरलाल देखते कि वे चुपचाप ज़रूरी सामान लेकर कहीं खिसक गए हैं, कोई लाहौर से बाहर, कोई लाहौर में ही हिन्दुग्रों के मुहल्ले में। ग्रौर ग्रन्त में यह परिस्थिति ग्रा गई थी कि ग्रब उनके दाहिनी ग्रोर चार मकान खाली छोड़कर एक मुसलमान गूजर का ग्रहाता पड़ता था जिसमें एक ग्रोर गूजर की भैंसें ग्रौर दूसरी ग्रोर कई छोटे-मोटे मुसलमान कारीगर रहते थे; बायीं ग्रोर भी देविंदर ग्रौर रफ़ीकुद्दीन के मकानों के बीच के मकान खाली थे ग्रौर रफ़ीकुद्दीन के मकान के बाद मोज़ंग का ग्रड्डा पड़ता था, जिसके बाद तो विशुद्ध मुसलमान बस्ती थी। देविंदरलाल ग्रौर रफ़ीकुद्दीन में पुरानी दोस्ती थी, ग्रौर एक-एक ग्रादमी के जाने पर उनमें चर्चा होती थी। ग्रन्त में जब एक दिन देविंदरलाल ने जताया कि वे भी चले जाने की बात पर विचार कर रहे हैं तब रफ़ीकुद्दीन को धक्का लगा ग्रौर उन्होंने व्यथित स्वर में कहा, "देविंदरलालजी, ग्राप भी !"

रफ़ीकुद्दीन का ग्राश्वासन पाकर देविंदरलाल रह गए। तब यह तय हुग्रा कि ग्रगर खुदा न करे कोई खतरे की बात हुई ही, तो रफ़ीकुद्दीन उन्हें पहले खबर भी कर देंगे ग्रौर हिफाज़त का इंतज़ाम भी कर देंगे—चाहे जैसे हो। देविंदरलाल की स्त्री तो कुछ दिन पहले ही जालंधर मायके गई हुई थी, उसे लिख दिया गया कि ग्रभी न ग्राए, वहीं रहे। रह गए देविंदर ग्रौर उनका पहाड़िया नौकर संतू।

किन्तु यह व्यवस्था बहुत दिन नहीं चली। चौथे ही दिन सवेरे उठकर उन्होंने देखा, संतू भाग गया है। ग्रपने हाथों चाय बनाकर उन्होंने पी, धोने को बर्तन उठा रहे थे कि रफ़ीकुद्दीन ने ग्राकर खबर दी, सारे शहर में मार-काट हो रही है ग्रौर थोड़ी देर में मोज़ंग में भी हत्यारों के गिरोह बंध-बंध-

कर निकलेंगे। कहीं जाने का समय नहीं है, देविंदरलाल अपना ज़रूरी और कीमती सामान ले लें और उनके साथ उनके घर चले चलें। यह बला टल जाए तो फिर लौट आवेंगे···

'कीमती' सामान कुछ था नहीं। गहना-छल्ला सब स्त्री के साथ जालंधर चला गया था, रुपया थोड़ा-बहुत बैंक में था; और ज़्यादा फैलाव कुछ उन्होंने किया नहीं था। यों गृहस्थ को अपनी गिरस्ती की हर चीज़ कीमती मालूम होती है···देविंदरलाल घंटे-भर बाद ट्रंक-बिस्तर के साथ रफ़ीकुद्दीन के यहां जा पहुंचे।

तीसरे पहर उन्होंने देखा, हुल्लड़ मोज़ंग में आ पहुंचा है। शाम होते-होते उनकी निर्निमेष आंखों के सामने हा उनके घर का ताला तोड़ा गया और जो कुछ था लुट गया। रात को जहां-तहां लपटें उठने लगीं, और भादों की उमस धुआं खाकर और भी गलघोंटू हो गई···

रफ़ीकुद्दीन भी आंखों में पराजय लिए चुपचाप देखते रहे। केवल एक बार उन्होंने कहा, "यह दिन भी था देखने को—और आज़ादी के नाम पर! या अल्लाह!"

लेकिन खुदा जिसे घर से निकालता है, उसे फिर गली में भी पनाह नहीं देता।

देविंदरलाल घर से बाहर तो निकल ही न सकते, रफ़ीकुद्दीन ही आते-जाते। काम करने का तो वातावरण ही नहीं था, वे घूम-घाम आते, बाज़ार कर आते और शहर की खबर ले आते, देविंदर को सुनाते और फिर दोनों बहुत देर तक देश के भविष्य पर आलोचना किया करते। देविंदर ने पहले तो लक्ष्य नहीं किया लेकिन बाद में पहचानने लगा कि रफ़ीकुद्दीन की बातों में कुछ चिन्ता का, और कुछ एक और पीड़ा का भी स्वर है जिसे वह नाम नहीं दे सकता—थकान? उदासी? विरक्ति? पराजय? न जाने···

शहर तो वीरान हो गया था। जहां-तहां लाशें सड़ने लगीं; घर

लुट चुके थे और अब जल रहे थे। शहर के एक नामी डाक्टर के पास कुछ प्रतिष्ठित लोग गए थे यह प्रार्थना लेकर कि वे मुहल्लों में जावें ; उनकी सब लोग इज़्ज़त करते हैं, इसलिए उनके समझाने का असर होगा और मरीज़ भी वे देख सकेंगे। वे दो मुसलमान नेताओं के साथ निकले। दो-तीन मुहल्ले घूमकर मुसलमानों की बस्ती में एक मरीज़ को देखने के लिए स्टेथेस्कोप निकालकर मरीज़ पर झुके थे कि मरीज़ के ही एक रिश्तेदार ने पीठ में छुरा भोंक दिया···

हिन्दू मुहल्ले में रेलवे के एक कर्मचारी ने बहुत-से निराश्रितों को अपने घर में जगह दी थी जिनके घर-बार सब लुट चुके थे। पुलिस को उसने खबर दी थी कि ये निराश्रित उसके घर टिके हैं, हो सके तो उनके घरों और माल की हिफाज़त की जाए। पुलिस ने आकर शरणागतों के साथ उसे और उसके घर की स्त्रियों को गिरफ्तार कर लिया और ले गई ! पीछे घर पर हमला हुआ, लूट हुई और घर में आग लगा दी गई। तीन दिन बाद उसे और उसके परिवार को थाने से छोड़ा गया और हिफाज़त के लिए हथियार-बंद पुलिस के दो सिपाही साथ किए गए। थाने से पचास कदम के फासले पर पुलिसवालों ने अचानक बंदूक उठाकर उसपर और उसके परिवार पर गोली चलाई। वह और तीन स्त्रियां मारी गईं। उसकी मां और स्त्री घायल होकर गिर गईं और सड़क पर पड़ी रहीं···

विषाक्त वातावरण, द्वेष और घृणा की चाबुक से तड़फड़ाते हुए हिंसा के घोड़े, विष फैलाने को संप्रदायों के अपने संगठन और उसे भड़काने को पुलिस और नौकरशाही ! देविंदरलाल को अचानक लगता कि वह और रफ़ीकुद्दीन ही गलत हैं जो कि बैठे हुए हैं जबकि सब कुछ भड़क रहा है, उफन रहा है, झुलस और जल रहा है···और वे लक्ष्य करते कि वह अस्पष्ट स्वर जो वे रफ़ीकुद्दीन की बातों में पाते थे, धीरे-धीरे कुछ स्पष्ट होता जाता है—एक लज्जित-सी रुखाई का स्वर···

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की अनुमानित सीमा के पास के एक गांव में कई सौ मुसलमानों ने सिक्खों के गांव में शरण पाई। अन्त में जब आस-पास के गांव के और अमृतसर शहर के लोगों के दबाव ने उस गांव में उनके लिए फिर आसन्न संकट की स्थिति पैदा कर दी, तब गांव के लोगों ने अपने मेहमानों को अमृतसर स्टेशन पहुंचाने का निश्चय किया जहां से वे सुरक्षित मुसलमान इलाके में जा सकें, और दो-ढाई सौ आदमी किरपानें निकालकर उन्हें घेरे में लेकर स्टेशन पहुंचा आए—किसीको कोई क्षति नहीं पहुंची···

घटना सुनाकर रफ़ीकुद्दीन ने कहा, "आखिर तो लाचारी होती है, अकेले इनसान को झुकना ही पड़ता है। यहां तो पूरा गांव था, फिर भी उन्हें हारना पड़ा। लेकिन आखिर तक उन्होंने निबाहा, इसकी दाद देनी चाहिए। उन्हें पहुंचा आए—"

देविंदरलाल ने हामी भरी। लेकिन सहसा पहला वाक्य उनके स्मृति-पटल पर उभर आया—'आखिर तो लाचारी होती है—अकेले इनसान को झुकना ही पड़ता है!'

उन्होंने एक तीखी नज़र से रफ़ीकुद्दीन की ओर देखा, पर वे कुछ बोले नहीं।

अपराह्न में छः-सात आदमी रफ़ीकुद्दीन से मिलने आए। रफ़ीकुद्दीन ने उन्हें अपने बैठक में ले जाकर दरवाज़े बन्द कर लिए। डेढ़-दो घंटे तक बातें हुईं। सारी बात प्रायः धीरे-धीरे ही हुई, बीच-बीच में कोई स्वर ऊंचा उठ जाता और एक-आध शब्द देविंदरलाल के कान में पड़ जाता—'बेवकूफ़ी', 'गद्दारी', 'इस्लाम'···वाक्यों को पूरा करने की कोशिश उन्होंने आयास-पूर्वक नहीं की। दो घंटे बाद जब उनको बिदा करके रफ़ीकुद्दीन बैठक से निकलकर आए, तब भी उनसे लपककर पूछने की स्वाभाविक प्रेरणा को उन्होंने दबाया। पर जब रफ़ीकुद्दीन उनकी ओर न देखकर खिंचा हुआ

चेहरा झुकाए उनकी बगल से निकलकर बिना एक शब्द कहे भीतर जाने लगे तब उससे न रहा गया और उन्होंने आग्रह के स्वर में पूछा, "क्या बात है, रफ़ीक साहब, खैर तो है?"

रफ़ीकुद्दीन ने मुंह उठाकर एक बार उनकी ओर देखा, बोले नहीं। फिर आंखें झुका लीं।

अब देविंदरलाल ने कहा, "मैं समझता हूं। मेरी वजह से आपको ज़लील होना पड़ रहा है। और खतरा उठाना पड़ रहा है सो अलग। लेकिन आप मुझे जाने दीजिए। मेरे लिए आप जोखिम में न पड़ें। आपने जो कुछ किया है उसके लिए मैं बहुत शुक्रगुज़ार हूं। आपका एहसान···"

रफ़ीकुद्दीन ने दोनों हाथ देविंदरलाल के कंधों पर रख दिए। कहा, "देविंदरलालजी!" उनकी सांस तेज़ चलने लगी। फिर वह सहसा भीतर चले गए।

लेकिन खाने के वक्त देविंदरलाल ने फिर सवाल उठाया। बोले, "आप खुशी से न जाने देंगे तो मैं चुपचाप खिसक जाऊंगा। आप सच-सच बतलाइए, आपसे उन्होंने कहा क्या?"

"धमकियां देते रहे और क्या?"

"फिर भी, क्या धमकी आखिर···"

"धमकी को भी 'क्या' होती है क्या? उन्हें शिकार चाहिए—हल्ला करके न मिलेगा तो आग लगाकर लेंगे।"

"ऐसा! तभी तो मैं कहता हूं, मैं चला। मैं इस वक्त अकेला आदमी हूं, कहीं निकल ही जाऊंगा। आप घर-बारवाले आदमी—ये लोग तो सब तबाह कर डालने पर तुले हैं।"

"गुंडे हैं बिलकुल!"

"मैं आज ही चला जाऊंगा—"

"यह कैसे हो सकता है? आखिर आपको चले जाने से हमीं ने रोका था, हमारी भी तो कुछ ज़िम्मेदारी है—"

"आपने भला चाहकर ही रोका था—उससे आगे कोई ज़िम्मेदारी

नहीं है…"

"आप जावेंगे कहां…"

"देखा जाएगा…"

"नहीं, यह नामुमकिन बात है।"

किन्तु बहस के बाद तय हुआ यही कि देविंदरलाल वहां से टल जाएंगे। रफ़ीकुद्दीन और कहीं पड़ौस में उनके एक और मुसलमान दोस्त के यहां छिपकर रहने का प्रबन्ध कर देंगे—वहां तकलीफ तो होगी पर खतरा नहीं होगा क्योंकि देविंदरलाल घर में नहीं रहेंगे। वहां पर रहकर जान की हिफाज़त तो रहेगी, तब तक कुछ और उपाय सोचा जाएगा निकलने का…

देविंदरलाल शेख अताउल्लाह के अहाते के अन्दर पिछली तरफ़ पेड़ों के झुरमुट की आड़ में बनी हुई एक गैराज में पहुंच गए। ठीक गैराज में तो नहीं, गैराज की बगल में एक कोठरी थी जिसके सामने दीवारों से घिरा हुआ एक छोटा-सा आंगन था। पहले शायद यह ड्राइवर के रहने के काम आती हो। कोठरी में ठीक सामने और गैराज की तरफ के किवाड़ों को छोड़कर खिड़की वगैरह नहीं थी। एक तरफ एक खाट पड़ी थी, आले में एक लोटा। फर्श कच्चा, मगर लिपा हुआ। गैराज के बाहर लोहे की चादर का मज़बूत फाटक था, जिसमें ताला पड़ा था। फाटक के अन्दर ही कच्चे फर्श में एक गढ़ा-सा खुदा हुआ था जिसकी एक ओर चूना-मिली मिट्टी का ढेर और एक मिट्टी का लोटा देखकर गढ़े का उपयोग समझते देर न लगी।

देविंदरलाल का ट्रंक और बिस्तर जब कोठरी के कोने में रख दिया गया और बाहर आंगन का फाटक बन्द करके उसमें भी ताला लगा दिया गया, तब थोड़ी देर वे हतबुद्धि खड़े रहे। यह है आज़ादी ! पहले विदेशी सरकार लोगों को कैद करती थी कि वे आज़ादी के लिए लड़ना चाहते थे; अब अपने ही भाई अपनों को तनहाई कैद दे रहे हैं क्योंकि वे आज़ादी के

लिए ही लड़ाई रोकना चाहते हैं ! फिर मानव प्राणी का स्वाभाविक वस्तु-वाद जागा, और उन्होंने गैराज-कोठरी-आंगन का निरीक्षण इस दृष्टि से आरम्भ किया कि क्या-क्या सुविधाएं वे अपने लिए कर सकते हैं।

गैराज—ठीक है; थोड़ी-सी दुर्गंध होगी, ज़्यादा नहीं; बीच का किवाड़ बन्द रखने से कोठरी में नहीं आएगी। नहाने का कोई सवाल ही नहीं—पानी शायद मुंह-हाथ धोने को काफी हो जाया करेगा…

कोठरी—ठीक है। रोशनी नहीं है, पढ़ने-लिखने का सवाल नहीं उठता। पर कामचलाऊ रोशनी आंगन से प्रतिबिम्बित होकर आ जाती है क्योंकि आंगन की एक ओर सामने के मकान की कोनेवाली बत्ती से रोशनी पड़ती है। बल्कि आंगन में इस जगह खड़े होकर शायद कुछ पढ़ा भी जा सके। लेकिन पढ़ने को है ही कुछ नहीं, यह तो ध्यान ही न रहा था !

देविंदरलाल फिर ठिठक गए। सरकारी कैद में तो गा-चिल्ला भी सकते हैं, यहां तो चुप रहना होगा !

उन्हें याद आया, उन्होंने पढ़ा है, जेल में लोग चिड़ियां, कबूतर, गिल-हरी, बिल्ली आदि से दोस्ती करके अकेलापन दूर करते हैं; यह भी न हो तो कोठरी में मकड़ी-चींटा आदि का अध्ययन करके…उन्होंने एक बार चारों ओर नज़र दौड़ाई। मच्छरों से भी बन्धुभाव हो सकता है, यह उनका मन किसी तरह नहीं स्वीकार कर पाया।

वे आंगन में खड़े होकर आकाश देखने लगे। आज़ाद देश का आकाश! और नीचे से, अभ्यर्थना में—जलते हुए घरों का धुआं ! धूपेन घापयामः। लाल चन्दन—रक्त चन्दन…

अचानक उन्होंने आंगन की दीवार पर एक छाया देखी—एक बिलार ! उन्होंने बुलाया "आओ, आओ" पर वह वहीं बैठा स्थिर दृष्टि से ताकता रहा।

जहां बिलार आता है, वहां अकेलापन नहीं है। देविंदरलाल ने कोठरी में जाकर बिस्तरा बिछाया और थोड़ी देर में निर्द्वन्द भाव से सो गए।

दिन छिपे के वक्त केवल एक बार खाना आता था। यों वह दो वक्त के लिए काफी होता था। उसी समय कोठरी और गैराज के लोटे भर दिए जाते थे। लाता था एक जवान लड़का, जो स्पष्ट ही नौकर नहीं था; देविंदरलाल ने अनुमान किया कि शेख साहब का लड़का होगा। वह बोलता बिलकुल नहीं था। देविंदरलाल ने पहले दिन पूछा था कि शहर का क्या हाल है तो उसने एक अजनबी दृष्टि से उन्हें देख लिया था। फिर पूछा-कि अभी अमन हुआ है या नहीं ? तो उसने नकारात्मक सिर हिला दिया था। और सब खैरियत ? तो फिर हिलाया था—हां।

देविंदरलाल चाहते तो खाना दूसरे वक्त के लिए रख सकते थे; पर एक बार आता है तो एक बार ही खा लेना चाहिए, यह सोचकर वे डरकर खा लेते थे और बाकी बिलार को दे देते थे। बिलार खूब हिल गया था, आकर गोद में बैठ जाता और खाता रहता, फिर हड्डी-वड्डी लेकर आंगन के कोने में बैठकर चबाता रहता या ऊब जाता तो देविंदरलाल के पास आकर घुरघुराने लगता।

इस तरह शाम कट जाती थी, रात घनी हो आती थी। तब वे सो जाते थे। सुबह उठकर आंगन में कुछ वरज़िश कर लेते थे कि शरीर ठीक रहे; बाकी दिन कोठरी में बैठेकभी कंकड़ों से खेलते, कभी आंगन की दीवार पर बैठनेवाली गौरैया देखते, कभी दूर से कबूतर की गुटर-गूं सुनते—और कभी सामने के कोने से शेखजी के घर के लोगों की बातचीत भी सुन पड़ती। अलग-अलग आवाज़ें वे पहचानने लगे थे, और तीन-चार दिन में ही वे घर के भीतर के जीवन और व्यक्तियों से परिचित हो गए थे। एक भारी-सी ज़नानी आवाज़ थी–शेख साहब की बीवी की; एक और तीखी ज़नानी आवाज़ थी जिसके स्वर में वय का खुरदरापन था—घर की कोई और बुजुर्ग स्त्री; एक विनीत युवा स्वर था जो प्रायः पहली आवाज़ की "ज़ैबू ! नी ज़ैबू !" पुकार के उत्तर में बोलता था और इसलिए शेख साहब की लड़की ज़ेबुन्निसा का स्वर था। दो मर्दानी आवाज़ें भी सुन पड़ती थीं—एक तो आबिद मियां की, जो शेख साहब का लड़का हुआ और जो इसलिए वही लड़का है जो

खाना लेकर आता है, और एक बड़ी भारी और चरबी से चिकनी आवाज़ जो शेख साहब की आवाज़ है। इस आवाज़ को देविंदरलाल सुन तो सकते लेकिन इसकी बात के शब्दाकार कभी पहचान में न आते—दूर से तीखी आवाज़ों के बोल ही स्पष्ट समझ आते हैं।

ज़ैबू की आवाज़ से देविंदरलाल का लगाव था। घर की युवती लड़की की आवाज थी, इस स्वाभाविक आकर्षण से ही नहीं, वह विनीत थी, इस-लिए। मन ही मन वे ज़ेबुन्निसा के बारे में अपने ऊहापोह को रोमानी खेल-वाड़ कहकर अपने को थोडा झिड़क भी लेते थे, पर अकसर वे यह भी सोचते थे कि क्या यह आवाज़ भी लोगों में फिकरापरस्ती का ज़हर भरती होगी? सकती होगी? शेख साहब पुलिस के किसी दफ्तर में शायद हेड क्लर्क हैं। देविंदरलाल को यहां लाते समय रफ़ीकुद्दीन ने यही कहा था कि पुलिसियों का घर तो सुरक्षित होता है; वह बात ठीक भी है, लेकिन सुरक्षित होता है इसलिए शायद बहुत-से उपद्रवों की जड़ भी होता है।—ऐसे घर में सभी लोग ज़हर फैलानेवाले हों तो अचम्भा क्या···

लेकिन खाते वक्त भी वे सोचते, खाने में कौन-सी चीज़ किस हाथ की बनी होगी परोसा किसने होगा। सुनी बातों से वे जानते थे कि पकाने में बड़ा हिस्सा तो उस तीखी खुरदुरी आवाज़वाली स्त्री का रहता था, पर परोसना शायद ज़ेबुन्निसा के ही ज़िम्मे था। और यही सब सोचते-सोचते देविंदरलाल खाना खाते और कुछ ज़्यादा ही खा लेते थे···

खाने में बड़ी-बड़ी मुसलमानी रोटी के बजाय छोटे-छोटे हिन्दू फुलके देखकर देविंदरलाल के जीवन की एकरसता में थोड़ा-सा परिवर्तन आया। मांस तो था, लेकिन आज रबड़ी भी थी जबकि पीछे मीठे के नाम पर एक-आध बार शाह टुकड़ा और एक बार फिरनी आई थी। आबिद जब खाना रखकर चला गया, तब देविंदरलाल क्षण-भर उसे देखते रहे। उनकी उंग-लियां फुलकों से खेलने-सी लगीं—उन्होंने एकाध को उठाकर फिर रख दिया; पल-भर के लिए अपने घर का दृश्य उनकी आंखों के आगे दौड़ गया। उन्होंने

फिर दो-एक फुलके उठाए और फिर रख दिए।

हठात् वे चौंके।

तीन-एक फुलकों की तह के बीच में कागज़ की एक पुड़िया-सी पड़ी थी।

देविंदरलाल ने पुड़िया खोली।

पुड़िया में कुछ नहीं था।

देविंदरलाल उसे फिर गोल करके फेंक देनेवाले ही थे कि हाथ ठिठक गया। उन्होंने कोठरी से आंगन में जाकर कोने में पंजों पर खड़े होकर वाहर की रोशनी में पुर्ज़ा देखा, उसपर कुछ लिखा था। केवल एक सतर।

'खाना कुत्ते को खिलाकर खाइएगा।'

देविंदरलाल ने कागज़ की चिंदियां कीं। चिंदियों को मसला। कोठरी से गैराज में जाकर उसे गड्ढे में डाल दिया। फिर आंगन में लौट आए और टहलने लगे।

मस्तिष्क ने कुछ नहीं कहा। सन्न रहा। केवल एक नाम उसके भीतर खोया-सा चक्कर काटता रहा, ज़ैबू···ज़ैबू···ज़ैबू···

थोड़ी देर बाद वह फिर खाने के पास जाकर खड़े हो गए।

यह उनका खाना है—देविंदरलाल का। मित्र के नहीं, तो मित्र के मित्र के यहां से आया है। और उनके मेज़वान के, उनके आश्रयदाता के।

ज़ैबू के।

ज़ैबू के पिता के।

कुत्ता यहां कहां है?

देविंदरलाल टहलने लगे।

आंगन की दीवार पर छाया सरकी। बिलार बैठा था।

देविंदरलाल ने बुलाया। वह लपककर कंधे पर आ रहा। देविंदरलाल ने उसे गोद में लिया और पीठ सहलाने लगे। वह घुरघुराने लगा। देविंदरलाल कोठरी में गए। थोड़ी देर बिलार को पुचकारते रहे, फिर धीरे-धीरे बोले, "देखो बेटा, तुम मेरे मेहमान, मैं शेख साहब का, है न? वे मेरे

साथ जो करना चाहते हैं, वही मैं तुम्हारे साथ करना चाहता हूं। चाहता नहीं हूं, पर करने जा रहा हूं। वे भी चाहते हैं कि नहीं, पता नहीं, यही तो जानना है। इसीलिए तो मैं तुम्हारे साथ वह करना चाहता हूं जो मेरे साथ वे पता नहीं चाहते हैं कि नहीं···नहीं, सब बात गड़बड़ हो गई। अच्छा, रोज़ मेरी जूठन तुम खाते हो, आज तुम्हारी मैं खाऊंगा। हां, यही ठीक है। लो खाओ···"

बिलार ने मांस खाया। हड्डी झपटना चाहता था, पर देविंदरलाल ने उसे गोदी में लिए-लिए ही रबड़ी खिलाई—वह सब चाट गया। देविंदर-लाल उसे गोदी में लिए सहलाते रहे।

जानवरों में तो सहज ज्ञान होता है खाद्य-अखाद्य का, नहीं तो वे बचते कैसे ? सब जानवरों में होता है, और बिल्ली तो जानवरों में शायद सबसे अधिक ज्ञान के सहारे जीनेवाली है, तभी तो कुत्ते की तरह पलती नहीं··· बिल्ली जो खा ले वह सर्वथा खाद्य है—यों बिल्ली सड़ी मछली खा ले जिसे इनसान न खाए वह और बात है···

सहसा बिलार ज़ोर से गुस्से से चीखा और उछलकर गोद से बाहर जा कूदा, चीखता-गुर्राता-सा कूदकर दीवार पर चढ़ा और गैराज की छत पर जा पहुंचा। वहां से थोड़ी देर तक उसके कानों में अपने-आपसे ही लड़ने की आवाज़ आती रही। फिर धीरे-धीरे गुस्से का स्वर दर्द के स्वर में परि-णत हुआ, फिर एक करुण रिरियाहट में, एक दुर्बल चीख में, एक बुझती हुई-सी कराह में, फिर एक सहसा चुप हो जानेवाली लंबी सांस में—

मर गया···

देविंदरलाल फिर खाने को देखने लगे। वह कुछ साफ-साफ दीखता हो सो नहीं; पर देविंदरलालजी की आंखें निस्पन्द उसे देखती रहीं।

आज़ादी। भाईचारा। देश—राष्ट्र···।

एक ने कहा कि हम ज़ोर करके रखेंगे और रक्षा करेंगे, पर घर से निकाल दिया। दूसरे ने आश्रय दिया, और विष दिया।

और साथ में चेतावनी कि विष दिया जा रहा है।

देविंदरलाल का मन ग्लानि से उमड़ आया। इस धक्के को राजनीति की भुरभुरी रेत की दीवार के सहारे नहीं, दर्शन के सहारे ही झेला जा सकता था।

देविंदरलाल ने जाना कि दुनिया में खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं, अच्छे की दुर्बलता के कारण है। भलाई की साहसहीनता ही बड़ी बुराई है। घने बादल से रात नहीं होती। सूरज के निस्तेज हो जाने से होती है।

उन्होंने खाना उठाकर बाहर आंगन में रख दिया। दो घूंट पानी पिया। फिर टहलने लगे।

तनिक देर बाद उन्होंने आकर ट्रंक खोला। एक बार सरसरी दृष्टि से सब चीज़ों को देखा, फिर ऊपर के खाने में से दो-एक कागज़, दो-एक फोटो, एक सेविंग बैंक की पास-बुक और एक बड़ा-सा लिफाफा निकालकर, एक काले शेरवानी-नुमा कोट की जेब में रखकर कोट पहन लिया। आंगन में आकर एक क्षण-भर कान लगाकर सुना।

फिर वे आंगन की दीवार पर चढ़कर बाहर फांद गए और बाहर सड़क पर निकल आए—वे स्वयं नहीं जान सके कि कैसे।

इसके बाद की घटना, घटना नहीं है। घटनाएं सब अधूरी होती हैं। पूरी तो कहानी होती है। कहानी की संगति मानवीय तर्क या विवेक या कला या सौंदर्य-बोध की बनाई हुई संगति है, इसलिए मानव को दीख जाती है और वह पूर्णता का आनन्द पा लेता है। घटना की संगति मानवापर किसी शक्ति की—कह लीजिए काल या प्रकृति या संयोग या दैव या भगवान की—बनाई हुई संगति है। इसलिए मानव को सहसा नहीं भी दीखती। इसलिए इसके बाद जो कुछ हुआ और जैसे हुआ वह बताना ज़रूरी नहीं। इतना बताने से काम चल जाएगा कि डेढ़ महीने बाद अपने घर का पता लेने के लिए देविंदरलाल अपना पता देकर दिल्ली रेडियो से अपील करवा रहे थे तब एक दिन उन्हें लाहौर की मुहरवाली एक छोटी-सी चिट्ठी

मिली थी।

'आप बचकर चले गए, इसके लिए खुदा का लाख-लाख शुक्र है। मैं मनाती हूं कि रेडियो पर जिनके नाम आपने अपील की है, वे सब सलामती से आपके पास पहुंच जाएं। अब्बा ने जो किया या करना चाहा उसके लिए मैं माफी मांगती हूं और यह भी याद दिलाती हूं कि उसकी काट मैंने ही कर दी थी। अहसान नहीं जताती—मेरा कोई अहसान आपपर नहीं है—सिर्फ यह इल्तजा करती हूं कि आपके मुल्क में अकलीयत का कोई मजलूम हो तो याद कर लीजिएगा। इसलिए नहीं कि वह मुसलमान है, इसलिए कि आप इनसान हैं। खुदा हाफिज़।'

देविंदरलाल की स्मृति में शेख अताउल्लाह की चरबी से चिकनी भारी आवाज़ गूंज गई, "ज़ैबू ! ज़ैबू !' और फिर गैराज की छत पर छटपटाकर धीरे-धीरे शांत होनेवाले बिलार की वह दर्द-भरी कराह, जो केवल एक लम्बी सांस बनकर चुप हो गई थी।

उन्होंने चिट्ठी की छोटी-सी गोली बनाकर चुटकी से उड़ा दी।

लेटर-बक्स

शरणार्थी कैंप में मेरा अपना कोई नहीं था, पर जिन-जिन अपनों का पता लेना चाहता था प्राय: सभी का कोई न कोई साथी वहां मिल गया और सबकी खबर मुझे मिल गई थी। कितनी बड़ी से बड़ी दुर्घटना को मनुष्य 'न-कुछ' करके निकाल देता है यदि वह कह सके कि 'मेरे अपनों की कोई क्षति नहीं हुई !' मैंने कैंप से बाहर निकलकर कई एक चिट्ठियां लिखीं—कुछ जिनके पते मिल गए थे उनको, कुछ अपने और परिचितों को जो उनके बारे में जानने को उत्सुक होंगे—सब पर पते लिखे और जेबी डायरी में से टिकट निकालकर लगाए, और डाक में छोड़ने चला। छुट्टी का दिन था, पर मुझे डाकघर से कुछ लेना नहीं था, कैंप जाते हुए मैंने देख लिया था कि रास्ते में वहां डाकघर पड़ता है ताकि डाक जल्दी से निकल जाए। छोटी जगहों में लेटर-बक्स से डाक निकलने में एक दिन की देर तो होती है अगर अधिक न हो—छोटी जगहों में कोई त्वरा का बोध ही नहीं होता, बड़ी जगह में ही यह धुन होती है कि सब कुछ जल्दी हो, तेजी के साथ हो, क्योंकि हर किसीको काम है, और हर काम ज़रूरी है, और हर ज़रूरत तात्कालिक।

डाकघर पहुंचकर देखा, बक्स के मुंह पर टीन का ढक्कन लगा रहता है, वह टेढ़ा होकर मुंह में ऐसा फंसा है कि चिट्ठी भीतर डालना मुश्किल है; चिट्ठी फंसकर रुक जाती है। कोशिश करके देखा, एक-एक चिट्ठी को मोड़कर भीतर घुसाकर और हाथ डालकर अन्दर कुछ दूर तक ठेल देने से फिर वह भीतर जा गिरती है—भीतर फर्श पर गिरने की आवाज़ 'खिश्' सुनाई देती थी। मैं चिट्ठियों को एक-एक करके डालने लगा।

देखा, मुझसे कुछ दूर पर एक छोटा-सा लड़का मेरी ओर देख रहा है।

मन उसपर केंद्रित नहीं हुआ, यों ही मैंने उसकी ओर मुस्करा दिया। बच्चों के लिए लेटर-बक्स ताजमहल और पिरामिडों से कम पात्रता नहीं रखता संसार के सात अचरजों में स्थान पाने की, यह मुझे अपने बचपन से याद था! भीतर चिट्ठी छोड़ दें और जहां चाहो पहुंच जाए, और लेटर-बक्स ज्यों का त्यों—क्या यह जादू से कुछ कम है? और लेटर-बक्सों में यह अनोखा है जिसके मुंह में चिट्ठी डालने के लिए मुंह ढूंढ़ना पड़ता है और फिर चिट्ठी भीतर तक ठेलनी पड़ती है—लेटर-बक्सों में कबंध है यह! लड़का मेरे चिट्ठी डालने के व्यायामों को देख रहा होगा। अस्पष्ट ढंग से यही सब सोचते हुए मैं उसकी ओर मुस्करा दिया।

अंतिम चिट्ठी छोड़ता हुआ मैं फिर चेहरे पर मुस्कान फैलाकर उसकी ओर मुड़ा। वह अब की मेरी ओर देख रहा था, पर अब की बार मैंने लक्ष्य किया, उसके चेहरे पर कौतूहल नहीं, धैर्य का भाव है—अपार धैर्य का और प्रतीक्षा का···

मैंने लेटर-बक्स से हाथ निकाला और जाने को हुआ कि लड़के ने जैसे साहस बटोरकर पूछा, "जी, इसमें कहां की चिट्ठी जाती है?"

मैंने कहा, "सब जगह की। तुझे कहां भेजनी है चिट्ठी?"

"बाबूजी को।"

"हां, मगर कहां—कोई जगह भी तो हो?" कहते हुए मैंने देखा उसके हाथ में एक कुचला-मुचला पोस्टकार्ड भी है। मैंने उसके लिए हाथ बढ़ाकर कहा, "देखूं···"

उसने कुछ अनाश्वस्त भाव से पोस्टकार्ड मेरी ओर बढ़ाया। मैंने उसे हथेली पर बिल्कुल सीधा किया, देखा कि पोस्टकार्ड पर तो मोटे-मोटे अक्षरों में कुछ लिखा है पर पते की जगह खाली है। मैंने हंसकर कहा, "पता भी तो लिखना होगा, पगले! क्या पता है?"

"सो तो बाबूजी बताएंगे—मुझे क्या मालूम···" आवाज रुआंसी हो गई और मैंने देखा, होंठों की कोर कांप रही है। मैंने तनिक नरम होकर पूछा, "तुम्हारा घर कहां है?"

"शेखूपुरे..."

अब स्थिति बिजली की कौंध की तरह मेरी समझ में आ गई। मैंने उसे ध्यान से देखा। उम्र कोई पांच वर्ष; उजला गोरा रंग, यद्यपि इस समय मैल की धारियों ने उसे छिपा लिया है; तन पर एक फटी कमीज़ और एक और भी फटा कोट, कमर के नीचे नंगा, टांगों पर जहां-तहां चोटों के सूखे खुरंड और पैर सूजे हुए। सिर नंगा, बाल रूखे और कुछ भूरे-से, आंखों में एक गहराई जो निरी बचपन की गहराई नहीं, एक छिपाव, एक काठिन्य और दूरी लिए हुए है। मैंने और भी नरम स्वर में पूछा, "शेखूपुरे में कहां ?"

"वीरांवाली।"

"बाबूजी तेरे वहीं हैं ?"

"नहीं, वहां से तो चले थे..."

"तू यहां किसके साथ आया ?"

"एक आदमी के साथ।"

"कौन आदमी ? नाम नहीं पता ?"

"नहीं। रास्ते में था।"

मैं डाकघर के बरामदे की रेलिंग के सहारे बैठ गया और उससे पूरी बात पूछने लगा। लड़के का नाम था रोशन; घर से वह मां और चाचा के साथ चला था लाहौर जाने के लिए। पिता भी गांव से शेखूपुरे तक साथ आए थे, वहां से अलग हो गए थे, एक-दूसरे गांव में जाने के लिए जहां से रोशन की बुआ और फूफा को लाना था। दोनों बूढ़े थे और बाल-बच्चा उनका कोई नहीं था—दो बेटे जंग में मारे गए थे जापान की तरफ। लाहौर में आ मिलने को कह गए थे। लाहौर की तरफ जाते-जाते और भी कई लोग उनके साथ हो गए थे, लेकिन रास्ते में कुछ लोगों ने बंदूकों से बहुत-सी गोलियां चलाईं और कुछ साथ के मारे गए—चाचा भी मर गए। पर साथियों ने रुकने नहीं दिया, बहुत जल्दी-जल्दी बढ़ते गए। लाहौर में बाबू-जी के मिलने की बात थी, पर लाहौर वे लोग गए ही नहीं। रास्ते में और

बहुत-से लोग मिले थे, उन्होंने कहा कि लाहौर जाना ठीक नहीं इसलिए रास्ते में से मुड़ गए। दूसरे दिन फिर दो-चार लोग गोलियों से मर गए, फिर एक जगह बहुत-से लोगों ने लाठी और कुल्हाड़ी लेकर वार किया। जम-कर लड़ाई हुई, पर हमला करनेवाले बहुत थे, इधर के आदमी बहुत-से मारे गए या गिर गए। वे लोग औरतों को पकड़कर ले जाने लगे। मां को भी उन्होंने पकड़ लिया। मां चिल्लाईं, पर जिसने पकड़ा था उसने ज़ोर से उनका मुंह अपने कंधे के साथ दाब दिया; तब मां ने कंधे पर बड़े ज़ोर से काट लिया और उस आदमी के झंझोड़ने पर भी नहीं छोड़ा। तब उस आदमी ने चीखकर मां को झटके के साथ अलग करके ज़मीन पर पटक दिया, और कुल्हाड़ी की उल्टी तरफ से मुंह पर वार किया—मां चिल्लाईं तो रोशन ने आंखें बंद कर लीं, खोलीं तो मां का मुंह, नाक, जबड़ा, कुछ नहीं था; लहू से भरा सिर था, बस; और वह आदमी मां की छाती पर एक पैर रखकर अभी और चोट करता जा रहा था मुंह पर—साथियों ने रोशन को पकड़ा और लड़ते-लड़ते भागते चले। दूर निकल गए तो आक्रमणकारियों ने पीछा छोड़ दिया—कुछ औरतों को वे पकड़ ले गए··· आठ-दस दिन में रोशन की टोली जलंधर पहुंची पर तब उसमें पहले दिन का एक भी साथी नहीं था, सब नये चेहरे थे, और इन्हींमें से एक उसे वहां तक ले आया था। वह कैंप में था, रोशन भी, पर रोशन का जी नहीं लगता वहां और वह बाबूजी के पास जाना चाहता है—मां तो मर गईं।

लड़का रोने लगा था। रोता जाता था और कहानी कहता जाता था। मैं और भी पूछ सकता, पर इससे आगे जानने को क्या था?

मैंने कहा, 'रोशन, तू कैंप में लौट जा और वहीं रह अभी। मैं तेरा नाम और कैंप का पता देकर रेडियो से खबर करवाऊंगा, तेरे बाबूजी अगर सुनेंगे तो तुझे चिट्ठी लिखेंगे। और फिर यहीं कैंप में आ सकेंगे। समझा?" मैं उसकी पीठ थपथपाकर उठा।

"और मेरी चिट्ठी? मैं भी तो उन्हें लिखना चाहता हूं।"

मैं ठिठक गया।

"हां, तेरी चिट्ठी । तेरी चिट्ठी···" आगे क्या कहूं ? बच्चे से धोखा करना बहुत बड़ा पाप है···मैंने कहा, "इस कार्ड को तू शेखूपुरे गांव के पते पर डाल दे···"

"हुं: वहां से तो वे चले गए···"

"बुआ के गांव गए थे, वहीं का पता···"

"वहां तो उनको लेने गए थे, वहां बैठे थोड़े ही रहेंगे ?"

"ठीक कहते हो, बेटा !" लड़के का तर्क बिलकुल ठीक है । मैं उसे क्या बताऊं कि कहां का पता लिखे जिससे पत्र उसके बाबूजी को मिल ही जाए ? सोचकर मैंने कहा, "लेकिन वहां से डाकखानेवाले आगे भेज देंगे न, जहां तेरे बाबूजी गए होंगे···"

"डाकखानेवालों को क्या पता भला ? तुम कुछ नहीं जानते बाबू साहब ! लाओ मेरी चिट्ठी मुझे दो···"

मैंने चाहा, कहूं, 'हां बेटा, ठीक कहते हो तुम, मैं सचमुच कुछ नहीं जानता···' पर प्रत्यक्ष मैंने केवल कहा, "लो···"

उसने पोस्टकार्ड फिर मेरे हाथ से ले लिया । मैंने मेहनत से उसे सीधा किया था, उसने फिर उसे कसकर पकड़ा और पहले-सा मरोड़ लिया । मैं धीरे-धीरे वहां से हटकर चलने लगा । चलते-चलते मैंने देखा, उसके चेहरे के आंसू सूख गए हैं, और वही धैर्य का, सीमाहीन धैर्य का भाव उसके चेहरे पर लौट आया है कि शायद अब मेरे बाद जो चिट्ठी छोड़ने आए वह मुझसे अधिक जानता हो और उसे बता दे कि वह अपनी चिट्ठी किस पते पर छोड़े ताकि वह बाबूजी को मिल जाए !

मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई

छूत की बीमारियां यों कई हैं; पर डर जैसी कोई नहीं। इसलिए और भी अधिक, कि यह स्वयं कोई ऐसी बीमारी है भी नहीं—डर किसने नहीं जाना?—और मारती है तो स्वयं नहीं, दूसरी बीमारियों के ज़रिये। कह लीजिये कि वह बला नहीं बलाओं की मां है…

नहीं तो यह कैसे होता है कि जहां डर आता है, वहां तुरंत घृणा और द्वेष, और कमीनापन आ घुसते हैं, और उनके पीछे-पीछे न जाने मानवात्मा की कौन-कौन-सी दबी हुई व्याधियां!

वबा का पूरा थप्पड़ सरदारपुरे पर पड़ा। छूत को कोई न कोई वाहक लाता है; सरदारपुरे में इस छूत को लाया सर्वथा निर्दोष दीखनेवाला एक वाहक—रोज़ाना अखबार!

यों अखबार में मार-काट, दंगे-फसाद और भगदड़ की खबरें कई दिन से आ रही थीं, और कुछ शरणार्थी सरदारपुरे में आ भी चुके थे—दूसरे स्थानों से इधर और उधर जानेवाले काफिले कूच कर चुके थे। पर सरदारपुरा उस दिन तक बचा रहा था।

उस दिन अखबार में विशेष कुछ नहीं था। जाटों और मेवों के उपद्रवों की खबरें भी उस दिन कुछ विशेष नई न थीं—पहले से चल रहे हत्या-व्यापारों का ही ताजा ब्यौरा था। केवल एक नई लाइन थी, 'अफवाह है कि जाटों के कुछ गिरोह इधर-उधर छापे मारने की तैयारियां कर रहे हैं।'

इस तनिक-से आधार को लेकर न जाने कहां से खबर उड़ी कि जाटों का एक बड़ा गिरोह हथियारों से लैस, बंदूक के गाजे-बाजे के साथ खुले हाथों मौत के नये खेल की पर्चियां लुटाता हुआ सरदारपुरे पर चढ़ा आ रहा है।

सवेरे की गाड़ी तब निकल चुकी थी। दूसरी गाड़ी रात को जाती थी; उसमें योंही इतनी भीड़ रहती थी और आजकल तो कहना क्या···फिर भी तीसरे पहर तक स्टेशन खचाखच भर गया। लोगों के चेहरों के भावों की अनदेखी की जा सकती तो यही लगता कि किसी उर्स पर जानेवाले मुरीद इकट्ठे हैं···

गाड़ी आई और लोग उसपर टूट पड़े। दरवाजों से, खिड़कियों से, जो जैसे घुस सका भीतर घुसा। जो न घुस सके वे किवाड़ों पर लटक गए, छतों पर चढ़ गए, या डिब्बों के बीच में धक्का संभालनेवाली कमानियों पर काठी कसकर जम गए। जाना ही तो है, जैसे भी हुआ, और फिर कौन टिकट खरीदा है जो आराम से जाने का आग्रह हो···

गाड़ी चली गई। कैसे चली और कैसे गई, यह न जाने, पर जड़ धातु होने के भी लाभ हैं ही आखिर!

और उसके चले जाने पर, मेले की जूठन-से जहां-तहां पड़े रह गए कुछ एक छोटे-छोटे दल जो किसी न किसी कारण उस ठेलमठेल में भाग न ले सके थे—कुछ बूढ़े, कुछ रोगी, कुछ स्त्रियां और तीन अधेड़ उम्र की स्त्रियों की वह टोली जिसपर हम अपना ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं।

सकीना ने कहा, "या अल्लाह, क्या जाने क्या होगा।"

आमिना बोली, "सुना है एक ट्रेन आनेवाली है—स्पेशल। दिल्ली से सीधी पाकिस्तान जाएगी—उसमें सरकारी मुलाजिम जा रहे हैं न? उसीमें क्यों न बैठें?"

"कब जाएगी?"

"अभी घंटे-डेढ़ घंटे बाद जाएगी शायद···"

जमीला ने कहा, "उसमें हमें बैठने देंगे? अफसर होंगे सब···"

"आखिर तो मुसलमान होंगे—बैठने क्यों न देंगे?"

"हां, आखिर तो अपने भाई हैं।"

धीरे-धीरे एक तन्द्रा छा गई स्टेशन पर। आमिना, जमीला और सकीना चुपचाप बैठी हुई अपनी-अपनी बातें सोच रही थीं। उनमें एक बुनि-

यादी समानता भी थी और सतह पर गहरे और हल्के रंगों की अलग-अलग छटा भी···तीनों के स्वामी बाहर थे—दो के फौज में थे और वहीं फ्रंटियर में नौकरी पर थे—उन्होंने कुछ समय बाद आकर पत्नियों को लिवा ले जाने की बात लिखी थी; सकीना का पति कराची की बंदरगाह में काम करता था और पत्र वैसे ही कम लिखता था, फिर इधर की गड़बड़ी में तो लिखता भी तो मिलने का क्या भरोसा···सकीना कुछ दिन के लिए मायके आई थी सो उसे इतनी देर हो गई थी, उसकी लड़की कराची में ननद के पास ही थी। आमिना के दो बच्चे होकर मर गए थे; जमीला का खाविंद शादी के बाद से ही विदेशों में पलटन के साथ-साथ घूम रहा था और उसे घर पर आए ही चार बरस हो गए थे। अब···तीनों के जीवन उनके पतियों में केन्द्रित थे, सन्तान में नहीं, और इस गड़बड़ के ज़माने में तो और भी अधिक···न जाने कब क्या हो—और अभी तो उन्हें दुनिया देखनी बाकी ही है, अभी उन्होंने देखा ही क्या है? सरदारपुरे में देखने को है भी क्या—यहां की खूबी यही थी कि हमेशा अमन रहता और चैन से कट जाती थी, सो अब वह भी नहीं, न जाने कब क्या हो···अब तो खुदा यहां से सही-सलामत निकाल ले सही···

स्टेशन पर कुछ चहल-पहल हुई, और थोड़ी देर बाद गड़गड़ाती हुई ट्रेन आकर रुक गई।

आमिना, सकीना और जमीला के पास सामान विशेष नहीं था, एक-एक छोटा ट्रंक, एक-एक पोटली। जो कुछ गहना-छल्ला था वह ट्रंक में अंट ही सकता था, और कपड़े-लत्तर का क्या है—फिर हो जाएंगे। और राशन के ज़माने में ऐसा बचा ही क्या है जिसकी माया हो।

जमीला ने कहा, "वह उधर ज़नाना है"—और तीनों उसी ओर लपकीं।

ज़नाना तो था, पर सेकंड क्लास का। चारों बर्थों पर बिस्तर बिछे थे, नीचे की सीटों पर चार स्त्रियां थीं, दो की गोद में बच्चे थे। एक ने डपटकर कहा, "हटो, यहां जगह नहीं है।"

आमिना आगे थी, झिड़की से कुछ सहम गई। फिर कुछ साहस बटोरकर चढ़ने लगी और बोली, "बहिन, हम नीचे ही बैठ जाएंगे—मुसीबत में हैं···"

"मुसीबत का हमने ठेका लिया है ? जाओ आगे देखो···"

जमीला ने कहा, "इतनी तेज़ क्यों होती हो बहिन ? आखिर हमें भी तो जाना है।"

"जाना है तो जाओ, थर्ड में जगह देखो। बड़ी आई हमें सिखानेवाली !" और कहनेवाली ने बच्चे को सीट पर धम्म से बिठाकर, उठकर भीतर की चिटकनी भी चढ़ा दी।

जमीला को बुरा लगा। बोली, "इतना गुमान ठीक नहीं है, बहिन ! हम भी तो मुसलमान हैं···"

इसपर गाड़ी के भीतर की चारों सवारियों ने गरम होकर एकसाथ बोलना शुरू कर दिया। उससे अभिप्राय कुछ अधिक स्पष्ट हुआ हो सो तो नहीं, पर इतना जमीला की समझ में आया कि वह बढ़-बढ़कर बात न करे, नहीं तो गार्ड को बुला लिया जाएगा।

सकीना ने कहा, "तो बुला लो न गार्ड को। आखिर हमें भी कहीं बिठाएंगे।"

"ज़रूर बिठाएंगे, जाके कहो न ! कह दिया कि यह स्पेशल है स्पेशल, ऐरे-गैरों के लिए नहीं है, पर कम्बख्त क्या खोपड़ी है कि···" एकाएक बाहर झांककर बगल के डिब्बे की ओर मुड़कर "भैया ! ओ अमजद भैया ! देखो ज़रा इन लोगों ने परेशान कर रखा है···"

'अमजद भैया' चौड़ी धारी के रात के कपड़ों में लपकते हुए आए। चेहरे पर बरसों की अफसरी की चिकनी पपड़ी, आते ही दरवाज़े से आमिना को ठेलते हुए बोले, "क्या है ?"

"देखो न इनने तंग कर रखा है। कह दिया जगह नहीं है पर यहीं घुसने पर तुली हुई हैं। कहा कि स्पेशल है, सेकंड है, पर सुनें तब न। और यह अगली तो···"

"क्यों जी तुम लोग जाती क्यों नहीं ? यहां जगह नहीं मिल सकती। कुछ अपनी हैसियत भी तो देखनी चाहिए···"

जमीला ने कहा, "क्यों, हमारी हैसियत को क्या हुआ है ? हमारे घर के ईमान की कमाई खाते हैं। हम मुसलमान हैं, पाकिस्तान जाना चाहते हैं और···"

"और टिकट ?"

"और मामूली ट्रेन में क्यों नहीं जातीं ?"

आमिना ने कहा, "मुसीबत के वक्त मदद न करे, तो कम से कम और तो न सताए ! हमें स्पेशल ट्रेन से क्या मतलब ?—हम तो यहां से जाना चाहते हैं जैसे भी हो। इस्लाम में तो सब बराबर हैं। इतना गरूर—या अल्लाह !"

"अच्छा, रहने दे। बराबरी करने चली है। मेरी जूतियों की बराबरी की है तैंने ?"

गाड़ी ने सीटी दी।

किवाड़ की एक तरफ का हैंडल पकड़कर जमीला चढ़ी कि भीतर से हाथ डालकर चिटकनी खोले, दूसरी तरफ का हैंडल पकड़कर अमजद मियां चढ़े कि उसे ठेल दें। जिधर जमीला था, उधर ही सकीना ने भी हैंडल पकड़ा था।

भीतर से आवाज़ आई, "खबरदार हाथ बढ़ाया तो, बेशर्मो ! हया-शर्म छू नहीं गई इन निगोड़ियों को···"

सकीना ने तड़पकर कहा, "कुछ तो खुदा का खौफ करो ! हम गरीब सही, पर कोई गुनाह तो नहीं किया···"

"बड़ी पाकदामन बनती हो ! अरे हिन्दुओं के बीच में रहीं, और अब उनके बीच से भागकर जा रही हो आखिर कैसे ? उन्होंने क्या यों-ही छोड़ दिया होगा ? सो-सौ हिन्दुओं से ऐसी-तैसी कराके पल्ला झाड़ के चली आईं पाकदामनी का दम भरने···"

जमीला ने हैंडल ऐसे छोड़ दिया मानो गरम लोहा हो। सकीना से

बोलो, "छोड़ो बहिन, हटो पीछे यहां से!"

सकीना ने उतरकर माथा पकड़कर कहा, "या अल्लाह!"

गाड़ी चल दी। अमजद मियां लपककर अपने डिब्बे में चढ़ गए।

जमीला थोड़ी देर सन्न-सी खड़ी रही। फिर उसने कुछ बोलना चाहा, आवाज़ न निकली। तब उसने ओठ गोल करके ट्रेन की ओर को कहा, "थूः!" और क्षण-भर बाद फिर "थूः!"

आमिना ने बड़ी लम्बी सांस लेकर कहा, "गई पाकिस्तान स्पेशल। या परवर्दिगार!"

रमंते तत्र देवताः

अक्तूबर सन् १९४६ का कलकत्ता। तब हम लोग दंगे के आदी हो गए थे, अखबार में इक्के-दुक्के खून और लूट-पाट की घटनाएं पढ़कर तन नहीं सिहरता था; इतने से यह भी नहीं लगता था कि शहर की शान्ति भंग हो गई। शहर बहुत-से छोटे-छोटे हिंदुस्तान-पाकिस्तानों में बंट गया था, जिनकी सीमाओं की रक्षा पहरेदार नहीं करते थे, लेकिन जो फिर भी परस्पर अनुल्लंघ्य हो गए थे। लोग इस बंटी हुई जीवन-प्रणाली को लेकर भी अपने दिन काट रहे थे; मान बैठे थे कि जैसे जुकाम होने पर एक नासिका बन्द हो जाती है तो दूसरी से श्वास लिया जाता है—तनिक कष्ट होता है तो क्या हुआ, कोई मर थोड़े ही जाता है?—वैसे ही श्वास की तरह नागरिक जीवन भी बंट गया तो क्या हुआ···एक नासिका ही नहीं, एक फेफड़ा भी बन्द हो जा सकता है और उसकी सड़न का विष सारे शरीर में फैलता है और दूसरे फेफड़े को भी आक्रांत कर लेता है, इतनी दूर तक रूपक को घसीट ले जाने की क्या ज़रूरत?

बीच-बीच में इस या उस मुहल्ले में विस्फोट हो जाता था। तब थोड़ी देर के लिए उस या आसपास के मुहल्लों में जीवन स्थगित हो जाता था, व्यवस्था पटकी खा जाती थी और आतंक उसकी छाती पर चढ़ बैठता था। कभी दो-एक दिन के लिए भी गड़बड़ रहती थी, तब बात कानोकान फैल जाती थी कि 'ओ पाड़ा भालो ना' और दूसरे मुहल्लों के लोग दो-चार दिन के लिए उधर आना-जाना छोड़ देते थे। उसके बाद ढर्रा फिर उभर आता था और गाड़ी चल पड़ती थी···

हठात् एक दिन कई मुहल्लों पर आतंक छा गया। ये वैसे मुहल्ले थे जिनमें हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की सीमाएं नहीं बांधी जा सकती थीं क्योंकि

प्याज़ की परतों की तरह एक के अंदर एक जमा हुआ था। इनमें यह होता था कि जब कहीं आसपास कोई गड़बड़ हो, या गड़बड़ की अफवाह हो, तो उसका उद्भव या कारण चाहे हिन्दू सुना जाए चाहे मुसलमान, सब लोग अपने-अपने किवाड़ बन्द करके जहां के तहां रह जाते, बाहर गए हुए शाम को घर न लौटकर बाहर ही कहीं रात काट देते, और दूसरे-तीसरे दिन तक घर के लोग यह न जान पाते कि गया हुआ व्यक्ति इच्छापूर्वक कहीं रह गया है या कहीं रास्ते में मारा गया है···

मैं तब बालीगंज की तरफ रहता था। यहां शांति थी और शायद ही कभी भंग होती थी। यों खबरें सब यहां मिल जाती थीं, और कभी-कभी आगामी 'प्रोग्रामों' का कुछ पूर्वाभास भी। मंत्रणाएं यहां होती थीं, शरणार्थी यहां आते थे, सहानुभूति के इच्छुक आकर अपनी गाथाएं सुनाकर चले जाते थे···

आतंक का दूसरा दिन था। तीसरे पहर घर के सामने बरामदे में आरामकुर्सी पर पड़े-पड़े मैं आने-जानेवालों को देख रहा था। 'आने-जानेवाले' यों भी अध्ययन की श्रेष्ठ सामग्री होते हैं, ऐसे आतंक के समय में तो और भी अधिक। तभी देखा, मेरे पड़ोसी ही एक सिख सरदार साहब, अपने साथ तीन-चार और सिखों को लिए हुए घर की तरफ जा रहे हैं। ये अन्य सिख मैंने पहले उधर नहीं देखे थे—कौतूहल स्वाभाविक था, और फिर आज अपने पड़ौसी को लम्बी किरपान लगाए देखकर तो और भी अचम्भा हुआ। सरदार बिशनसिंह सिख तो थे, पर बड़े संकोची, शांतिप्रिय और उदार विचारों के; प्रतीक-रूप से किरपान रखते रहे हों तो रहे हों, मैंने देखी नहीं थी और ऐसे उद्धत ढंग से कोट के ऊपर कमरबन्द के साथ लटकाई हुई तो कभी नहीं।

मैंने कुछ पंजाबी लहजा बनाकर कहा, "सरदारजी, अज्ज किद्धर फौजां चल्लियां ने?"

बिशनसिंह ने व्यस्त आंखों से मेरी ओर देखा। मानो कह रहे हों, 'मैं जानता हूं कि तुम्हारे लहजे पर मुस्कराकर तुम्हारा विनोद स्वीकार करना

चाहिए, पर देखते तो हो, मैं फंसा हूं···' स्वयं उन्होंने कहा, "फेर हाज़िर होवांगा···"

टोली आगे बढ़ गई।

जो लोग आरामकुर्सियों पर बैठकर आने-जानेवालों को देखा करते हैं, उन्हें एक तो देखने को बहुत कुछ मिलता है, दूसरे जो कुछ वे देखते हैं उसके साथ उनका रागात्मक लगाव तो ज़रा भी होता नहीं कि वह मन में जम जाए। मैं भी सरदार विशनसिंह को भूल-सा गया था जब रात को वे मेरे यहां आए। लेकिन अचम्भे को दबाकर मैंने कुर्सी दी और कहा, "आओ बैटो, वड़ी किरपा कीत्ती ?"

वे बैठ गए। थोड़ी देर चुप रहे। फिर बोले, "अज जी बड़ा दुखी हो गया ए ?"

मैंने पंजाबी छोड़कर गंभीर होकर कहा, "क्या बात है सरदारजी ? खैर तो है ?"

"सब खैर ही खैर है इस अभागे मुल्क में, भाई साहब, और क्या कहूं। मैं तो कहता हूं, दंगा और खून-खराबा न हो तो कैसे न हो, जबकि हम रोज़ नई जगह उसकी जड़ें रोप आते हैं, फिर उन्हें सींचते हैं·· मुझे तो अचंभा होता है, हमारी कौम बची कैसे रही अब तक !"

उनकी वाणी में दर्द था। मैंने समझा कि वे भूमिका में उसे बहा न लेंगे तो बात न कह पाएंगे, इसलिए चुप सुनता रहा। वे कहते गए, "सारे मुसलमान अरब और फारस और तातार से नहीं आए थे। सौ में एक होगा जिसको हम आज अरब या फारस या तातार की नस्ल कह सकें। और मेरा तो खयाल है—खयाल नहीं तजरुबा है कि अरब या ईरानी बड़ा नेक, मिलनसार और अमनपसंद होता है। तातारियों से साबिका नहीं पड़ा। बाकी सारे मुसलमान कौन हैं ? हमारे भाई, हमारे मज़लूम, जिनका मुंह हम हज़ारों बरसों से मिट्टी में रगड़ते आए हैं! वही, आज वही मुंह उठाकर हमपर थूकते हैं, तो हमें बुरा लगता है। पर वे मुसलमान हैं, इसलिए हम

खिसियाकर अपने और भाइयों को पकड़कर उनका मुंह मिट्टी में रगड़ते हैं ! और भाइयों को ही क्यों, बहिनों को पैरों के नीचे रौंदते हैं, और चूं नहीं करने देते क्योंकि चूं करने से धरम नहीं रहता—"

आवेश में सरदार की ज़बान लड़खड़ाने लगी थी। वे क्षण-भर चुप हो गए। फिर बोले, "बाबू साहब, आप सोचते होंगे, यह सिख होकर मुसलमानों का पच्छ करता है। ठीक है, उनसे किसीका वैर हो सकता है तो हमारा ही। पर आप सोचिए तो, मुसलमान हैं कौन ? मज़लूम हिन्दू ही तो मुसलमान हैं। हमने जिससे हिकारत की, वह हमसे नफरत करे तो क्या बुरा करता है—हमारा क़र्ज़ ही तो अदा करता है न ! मैं तो यह भी कहता हूं कि यह ठीक न भी हो, तो भी हम नुक्स निकालनेवाले कौन होते हैं ? इनसान को पहले अपना ऐब देखना चाहिए, तभी वह दूसरे को कुछ कहने लायक बनता है। आप नहीं मानते ?"

मैंने कहा, "ठीक कहते हैं आप। लेकिन इनसान आखिर इनसान है, देवता नहीं।"

उन्होंने उत्तेजित स्वर में कहा, "देवता ? आप कहते हैं देवता ? काश कि वह इनसान भी हो सकता ! बल्कि वह खरा हैवान भी होता तो भी कुछ बात थी—हैवान भी अपने नियम-कायदे से चलता है ! लेकिन बहस करने नहीं आया, आप आज की बात ही सुन लीजिए।"

मैंने कहा, "आप कहिए। मैं सुन रहा हूं।"

"आप जानते हैं कि मेरे घर के पास गुरुद्वारा है। जहां जब-तब कुछ लोगों ने पनाह पाई है, और जब-तब मैंने भी वहां पहरा दिया है। यह कोई तारीफ की बात नहीं, गुरुद्वारे की सेवा का भी एक ढर्रा है, पनाह देने की भी रीत चली आई है, इसीलिए यह हो गया है। हम लोगों ने इनसानियत की कोई नई ईजाद नहीं की। खैर, कल मैं शामबाज़ार से वापस आ रहा था तो देखा, रास्ते में अचानक मिनटों में सन्नाटा छाता जा रहा है। दो-एक ने मुझे भी पुकारकर कहा, 'घर जाओ, दंगा हो गया है,' पर यह न बता पाए कि कहां। ट्राम तो बंद थी ही।

"धरमतल्ले के पास मैंने देखा, एक औरत अकेली घबराई हुई आगे दौड़ती चली जा रही है, एक हाथ में एक छोटा बंडल है, दूसरे में ज़ोर से एक छोटा मनीबेग दाबे है। रो रही है। देखने से भद्रलोक की थी। मैंने सोचा, भटक गई है और डरी हुई है, यों भी ऐसे वक्त में अकेली जाना—और फिर बंगालिन का—ठीक नहीं, पूछकर पहुंचा दूं। मैंने पूछा, 'मां, तुम कहां जाओगी?' पहले तो वह और सहमी, फिर देखकर कि मुसलमान नहीं सिख हूं, ज़रा संभली। मालूम हुआ कि उत्तरी कलकत्ता से उसका खाविंद और वह दोनों धरमतल्ले आए थे, तय हुआ था कि दोनों अलग-अलग सामान खरीदकर के० सी० दास की दुकान पर नियत समय पर मिल जाएंगे और फिर घिर जाएंगे। इसी बीच गड़बड़ हो गई, वह सन्नाटे से डरकर घर भागी जा रही है—दास की दुकान पर नहीं गई, रास्ते में चांदनी पड़ती है जो उसने सदा सुना है कि मुसलमानों का गढ़ है।

"मैंने उससे कहा कि डरे नहीं, मेरे साथ धरमतल्ला पार कर ले। अगर के० सी० दास की दुकान पर उसका आदमी मिल गया तो ठीक, नहीं तो वहां से बालीगंज की ट्राम तो चलती होगी, उसमें जाकर गुरुद्वारे में रात रह जाएगी और सवेरे मैं उसे घर पहुंचा आऊंगा। दिन छिप चला था, बिजली सड़कों पर वैसे ही नहीं है, ऐसे में पांच-छः मील पैदल दंगे का इलाका पार करना ठीक नहीं है।" इतना कहकर सरदार बिशनसिंह क्षण-भर रुके, और मेरी ओर देखकर बोले, "बताइए, मैंने ठीक कहा कि गलत? और मैं क्या कर सकता था?"

"ठीक ही तो कहा, और रास्ता ही क्या था?"

"मगर ठीक नहीं कहा। बाद में पता लगा कि मुझे उसे अकेली भटकने देना चाहिए था।"

"क्यों?" मैंने अचकचाकर पूछा।

सुनिए।" सरदार ने एक लंबी सांस ली। "के० सी० दास की दुकान बंद थी। पति देवता का कोई निशान नहीं था। मैं उस औरत को ट्राम में बिठाकर यहां ले आया। रात वह गुरुद्वारे के ऊपरवाले कमरे में रही। मैं तो

अकेला हूं आप जानते हैं, मेरी बहिन ने उसे वहीं ले जाकर खाना खिलाया और बिस्तरा वगैरा दे आई। सवेरे मैंने एक सिख ड्राइवर से बात करके टैक्सी की, और ढूंढ़ता हुआ उसके घर ले गया। शामपुकुर लेन में था—एकदम उत्तर में। दरवाज़ा बंद था, हमने खटखटाया तो एक सुस्त-से महाशय बाहर निकले—पति देवता।"

"आप लोगों को देखते ही उछल पड़े होंगे?"

सरदार क्षण-भर चुप रहे।

"हां, उछल तो पड़े। लेकिन बहू को देखकर तो नहीं, मुझे देखकर।" उन्होंने फिर एक लंबी सांस ली। "महाशय के० सी० दास पर नहीं ठहरे थे, दंगे की खबर हुई तो कहीं एक दोस्त के यहां चले गए थे। रात वहीं रहे थे, हमसे कुछ पहले ही लौटकर आए थे। आंखें भारी थीं। दरवाज़ा खोलकर मुझे देखकर चौंके, फिर मेरे पीछे स्त्री को देखकर तनिक ठिठके और खड़े-खड़े बोले, 'आप कौन?' मैंने कहा, 'पहले इन्हें भीतर ले जाइए, फिर मैं सब बतलाता हूं।' स्त्री पहले ही सकुची झुकी खड़ी थी, इस बात पर उसने घूंघट ज़रा आगे सरकाकर अपने को और भी समेट-सा लिया।"

बिशनसिंह फिर ज़रा चुप रहे, मैं भी चुप रहा।

"पति ने फिर पूछा, 'ये रात आपके यहां रहीं?' मैंने कहा, 'हां, हमारे गुरुद्वारे में रहीं। शाम को यहां आना मुमकिन नहीं था।' उन्होंने फिर कहा, 'आपके बीवी-बच्चे हैं?' मैंने कहा, 'नहीं, मेरी विधवा बहिन साथ रहती है, पर इससे आपको क्या?'

"उन्होंने मुझे जवाब नहीं दिया। वहीं से स्त्री की ओर उन्मुख होकर बंगाली में पूछा, तुम रात को क्या जाने कहां रही हो, सवेरे तुम्हें यहां आते शरम न आई?" सरदार बिशनसिंह ने रुककर मेरी ओर देखा।

मैंने कहा, "नीच!"

बिशनसिंह के चेहरे पर दर्द-भरी मुस्कान झलककर खो गई। बोले, "मैं न जाने क्या करता उस आदमी को—और सोचता हूं कि स्त्री भी न जाने क्या जवाब देती। लेकिन औरत ज़ात का जवाब न देना भी कितना

बड़ा जवाब होता है, इसको आजकल का कीड़ा इनसान क्या समझता है ? मैंने पीछे धमाका सुनकर मुड़कर देखा, वह औरत गिर गई थी—बेहोश होकर। मैं फौरन उठाने को झुका, पर उस आदमी ने ऐसा तमाचा मारा था कि मेरे हाथ ठिठक गए। मैंने उसीसे कहा, 'उठाओ, पानी का छींटा दो···' पर वह सरका नहीं, फिर उसकी ढवर-ढवर आंखें छोटी होकर लकीरें-सी बन गईं, और एकाएक उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया।"

मैं स्तब्ध सुनता रहा। कुछ कहने को न मिला।

"लोग इकट्ठे होने लगे थे। मैं उस स्त्री की बात सोचकर ज़्यादा भीड़ करना भी नहीं चाहता था। ड्राइवर की मदद से मैंने उसे टैक्सी में रखा और घर ले आया। बहिन को उसकी देखभाल करने को कहके बाबा बचित्तरसिंह के पास गया—वे हमारे बुज़ुर्ग हैं और गुरुद्वारे के ट्रस्टी। वहीं हम लोगों ने मीटिंग करके सलाह की कि क्या किया जाए। कुछ की तो राय थी कि उस आदमी को कत्ल कर देना चाहिए, पर उससे उसकी विधवा का मसला तो हल न होता। फिर यही सोचा गया कि पांच सरदारों का जत्था गुरुद्वारे की तरफ से उस औरत को उसके घर लेकर जाए, और उसके आदमी से कहे कि या तो इसको अपनाकर घर में रखो या हम समझेंगे कि तुमने गुरुद्वारे की बेइज़्ज़ती की है और तुम्हें काट डालेंगे।"

"आप शायद कल तीसरे पहर वहीं से लौट रहें होंगे···"

"हां। नहीं तो आप जानते हैं मैं वैसे किरपान नहीं बांधता। एक ज़माने में जिन वजूहात से गुरुओं ने किरपान बांधना धर्म बताया था, आज उनके लिए राइफल से कम कोई क्या बांधेगा ? निरी निशानी का मोह अपनी बुज़दिली को छिपाने का तरीका बन जाता है, और क्या ! खैर, हम लोग औरत को लेकर गए। हमें देखते ही पहले तो और भी कई लोग जुट गए, पर जत्थे को देखकर शायद पति देवता को अकल आ गई, उन्होंने हमसे कहा, 'अच्छा ठीक है, आप लोगों की मेहरबानी', और औरत से कहा, 'चल, भीतर चल' और बस। हमें आने या बैठने को नहीं कहा··· हम बैठते तो क्या उस कमीने के घर में···"

"औरत भीतर चली गई ? कुछ बोली नहीं ?"

"बोलती क्या ? जब से होश आया तब से बोली नहीं थी। उसकी आंखें न जाने कैसी हो गई थीं, उनमें झांककर भी कोई जैसे कुछ नहीं देखता था, सिर्फ एक दीवार। मुझसे तो उसके पास नहीं ठहरा जाता था। वह चुपचाप खड़ी रही। जब हम लोगों ने कहा, 'जाओ मां, घर में जाओ अब…' तब जैसे मशीन-सी दो-तीन कदम आगे बढ़ी। पति के फैलते-सिकुड़ते नथनों की ओर उसने नहीं देखा, एक-एक कदम पर जैसे और झुकती और छोटी होती जाती थी। देहरी तक ही गई, फिर वहीं लड़खड़ाकर बैठ गई। मैं तो समझा था फिर गिरी, पर बैठते-जैठते उसका सिर चौखटे से टकराया तो चोट से वह संभल गई। बैठ गई। उसे वैसे ही छोड़कर हम चले आए।"

हम दोनों देर तक चुप रहे।

थोड़ी देर बाद सरदार बिशनसिंह ने कहा, "बोलिए कुछ, भाई साहब ?"

मैंने कहा, "चलिए, बात खत्म हो गई जैसे-तैसे। उन्होंने उसे घर में ले लिया…"

बिशनसिंह ने तीखी दृष्टि से मेरी तरफ देखा। "आप सच-सच कह रहे हैं बाबू साहब ?"

मैंने चौंककर कहा, "क्यों ? झूठ क्या है ?"

"आप सचमुच मानते हैं कि बात खत्म हो गई ?"

मैंने कुछ रुकते-रुकते कहा, "नहीं, वैसा तो नहीं मान पाता। यानी हमारे लिए भले ही खत्म हो गई हो, उनके लिए तो नहीं हुई।"

"हमारे लिए भी क्या हुई है ? पर उसे अभी छोड़िए, बताइए कि उस औरत का क्या होगा ?"

मैंने अपने शब्द तौलते हुए कहा, "बंगाल में आए दिन अखबारों में पढ़ने को मिलता है कि स्त्री ने सास या ननद या पति के अत्याचार से दुखी होकर आत्महत्या कर ली, ज़हर खा लिया या कुएं में कूद पड़ी। और…

कभी-कभी ऐसे एक्सीडेण्ट भी होते हैं कि स्त्री के कपड़ों में आग लग गई, चाहे योंही, चाहे मिट्टी के तेल के साथ···"

"हां, हो सकता है। आप माफ करना, मैं कड़वी बात कहनेवाला हूं। इससे अगर आपको कुछ तसल्ली हो तो कहूं कि अपने को हिन्दू मानकर ही यह कह रहा हूं। आप हिन्दू हैं न, इसलिए यही सोचते हैं। वह मर जाएगी; छुटकारा हो जाएगा। हिन्दू धर्म उदार है न; मारता नहीं, मरने का सब तरह से सुभीता कर देता है। इसमें दो फायदे हैं—एक तो कभी चूक नहीं होती, दूसरे यह तरीका दया का भी है। लेकिन यह बताइए, अगर आदमी पशु है तो औरत क्यों, देवता हो ? देवता मैं जानबूझकर कहता हूं, क्योंकि इनसान का इन्साफ तो देवताओं से भी ऊंचा उठ सकता है। देवता सूद न लें, धेले-पाई की वसूली पूरी करते हैं।—करते हैं कि नहीं ?"

मैंने कहा, "सरदार साहब, आपको सदमा पहुंचा है इसलिए आप इतनी कड़वी बात कह रहे हैं। मैं उस आदमी को अच्छा नहीं कहता, पर एक आदमी की बात को आप हिन्दू जाति पर क्यों थोपते हैं ?"

"क्या वह सचमुच एक आदमी की बात है ? सुनिए, मैं जब सोचता हूं कि क्या हो तो उस आदमी के साथ इन्साफ हो, तब यही देखता हूं कि वह औरत घर से दुतकारी जाकर मुसलमान हो, मुसलमान जने, ऐसे मुसलमान जो एक-एक सौ-सौ हिन्दुओं को मारने की कसम खाए। और आप तो साइकालोजी पढ़े हैं न, आप समझेंगे—हिन्दू औरतों के साथ सचमुच वही करे जिसकी झूठी तोहमत उसकी मां पर लगाई गई ! देवताओं का इन्साफ तो हमेशा से यही चला आया है—नफरत के एक-एक बीज से हमेशा सौ-सौ ज़हरीले पौधे उगे हैं। नहीं तो यह जंगल यहां उगा कैसे, जिसमें आज हम-आप खो गए हैं और क्या जाने अभी निकलेंगे कि नहीं ? हम रोज़ दिन में कई बार नफरत का नया बीज बोते हैं और जब पौधा फलता है तो चीखते हैं कि धरती ने हमारे साथ धोखा किया !"

मैं काफी देर तक चुप रहा। सरदार विशनसिंह की बात चमड़ी के

नीचे कंकड़-सी रड़कने लगी। वातावरण बोझीला हो गया। मैंने उसे कुछ हल्का करने के लिए कहा, "सिख कौम की शिवेलरी मशहूर है। देखता हूं, उस बिचारी का दुःख ग्रापकी शिवेलरी को छू गया है!"

उन्होंने उठते हुए कहा, "मेरी शिवेलरी!" ग्रौर थोड़ी देर बाद फिर ऐसे स्वर में जिसमें एक ग्रजीब गूंज थी, "मेरी शिवेलरी, भाई साहब!"

उन्होंने मुंह फेर लिया, लेकिन मैंने देखा, उनके होंठों की कोर कांप रही है—हल्की-सी लेकिन बड़ी बेवसी के साथ···

बदला

अंधेरे डिब्बे में जल्दी-जल्दी सामान ठेल, गोद के आबिद को खिड़की से भीतर सीट पर पटक, बड़ी लड़की ज़ुबैदा को चढ़ाकर सुरैया ने स्वयं भीतर घुसकर गाड़ी के चलने के साथ-साथ लंबी सांस लेकर पाकपरवर्दिगार को याद किया ही था कि उसने देखा, डिब्बे के दूसरे कोने में चादर ओढ़े जो दो आकार बैठे हुए थे, वे अपने मुसलमान भाई नहीं—सिख थे ! चलती गाड़ी में स्टेशन की बत्तियों से रह-रहकर जो प्रकाश की झलक पड़ती थी, उसमें उसे लगा, उन सिखों की स्थिर अपलक आंखों में अमानुषी कुछ है। उनकी दृष्टि जैसे उसे देखती है पर उसकी काया पर रुकती नहीं, सीधी भेदती हुई चली जाती है; और तेज़ धार-सा एक अलगाव उनमें है, जिसे जैसे कोई छू नहीं सकता, छुएगा तो कट जाएगा ! रोशनी इसके लिए काफी नहीं थी, पर सुरैया ने मानो कल्पना की दृष्टि से देखा कि उन आंखों में लाल-लाल डोरे पड़े हैं, और···और···वह डर से सिहर गई। पर गाड़ी तेज़ चल रही थी, अब दूसरे डिब्बे में जाना असंभव था। कूद पड़ना एक उपाय होता, किन्तु उतनी तेज़ गति में बच्चे-कच्चे लेकर कूदने से किसी दूसरे यात्री द्वारा उठाकर बाहर फेंक दिया जाना क्या बहुत बदतर होगा ? यह सोचती और ऊपर से झूलती हुई खतरे की चेन के हैंडिल को देखती हुई वह अनिश्चित-सी बैठ गई···अगले स्टेशन पर देखा जाएगा···एक स्टेशन तक तो कोई खतरा नहीं है—कम से कम अभी तक तो कोई वारदात इस हिस्से में हुई नहीं···

"आप कहां तक जाएंगी ?"

सुरैया चौंकी। बड़ा सिख पूछ रहा था। कितनी भारी उसकी आवाज थी ! जो शायद दो स्टेशन बाद उसे मारकर ट्रेन से बाहर फेंक देगा, वह यहां उसे 'आप' कहकर संबोधन करे, इसकी विडंबना पर वह सोचती रह

गई और उत्तर में देर हो गई। सिख ने फिर पूछा, "आप कितनी दूर जाएंगी ?"

सुरैया ने बुरका मुंह से उठाकर पीछे डाल रखा था, सहसा उसे मुंह पर खींचते हुए कहा, "इटावे जा रही हूं।"

सिख ने क्षण-भर सोचकर कहा, "साथ कोई नहीं है ?"

उस तनिक-सी देर को लक्ष्य करके सुरैया ने सोचा, हिसाब लगा रहा है कि कितना वक्त मिलेगा मुझे मारने के लिए—या रब, अगले स्टेशन पर कोई और सवारियां आ जाएं···और साथ कोई ज़रूर बताना चाहिए—उससे शायद यह डरा रहे! यद्यपि आजकल के ज़माने में वह सफर में साथ क्या जो डिब्बे में साथ न बैठे···कोई छुरा भोंक दे तो अगले स्टेशन तक बैठी रहना कि कोई आकर खिड़की के सामने खड़ा होकर पूछेगा, 'किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं···'

उसने कहा, "मेरे भाई हैं—दूसरे डिब्बे में···"

आबिद ने चमककर कहा, "कहां मां ? मामू तो लाहौर गए हुए हैं···"

सुरैया ने उसे बड़ी ज़ोर से डपटकर कहा, "चुप रह !"

थोड़ी देर बाद सिख ने फिर पूछा, "इटावे में आपके अपने लोग हैं ?"

"हां।"

सिख फिर चुप रहा। थोड़ी देर बाद बोला, "आपके भाई को आपके साथ बैठना चाहिए था; आजकल के हालात में कोई अपनों से अलग बैठता है ?"

सुरैया मन ही मन सोचने लगी कि कहीं कम्बख्त ताड़ तो नहीं गया कि मेरे साथ कोई नहीं है ?

सिख ने मानो अपने-आपसे ही कहा, "पर मुसीबत में किसीका कोई नहीं है, सब अपने ही अपने हैं···"

गाड़ी की चाल धीमी हो गई। छोटा स्टेशन था। सुरैया असमंजस में

थी कि उतरे या बैठी रहे ? दो आदमी डिब्बे में और चढ़ आए—सुरैया के मन ने तुरन्त कहा, 'हिन्दू' और तब वह सचमुच और भी डर गई, और थैली-पोटली समेटने लगी।

सिख ने कहा, "आप क्या उतरेंगी ?"

"सोचती हूं, भाई के पास जा बैठूं···" क्या जीव है इनसान कि ऐसे मौके पर भी झूठ की टट्टी की आड़ बनाए रखता है···और कितनी झीनी आड़, क्योंकि डिब्बा बदलवाने भाई स्वयं न आता ? आता कहां से, हो जब न ?···

सिख ने कहा, "आप बैठी रहिए। यहां आपको कोई डर नहीं है। मैं आपको अपनी बहिन समझता हूं और इन्हें अपने बच्चे—आपको अलीगढ़ तक ठीक-ठीक मैं पहुंचा दूंगा। उससे आगे खतरा भी नहीं है, और वहां से आपके भाई-बंद भी गाड़ी में आ ही जाएंगे।"

एक हिन्दू ने कहा, "सरदारजी, जाती है तो जाने दो न, आपको क्या ?"

सुरैया न सोच पाती कि सिख की बात को, और इस हिन्दू की टिप्पणी को किस अर्थ में ले, पर गाड़ी ने चलकर फैसला कर दिया। वह बैठ गई।

हिन्दू ने पूछा, "सरदारजी, आप पंजाब से आए हो ?"

"जी।"

"कहां घर है आपका ?"

"शेखूपुरे में था। अब यहीं समझ लीजिए···"

"यहीं ? क्या मतलब ?"

"जहां मैं हूं, वहीं घर है ! रेल के डिब्बे का कोना।"

हिन्दू ने स्वर को कुछ संयत कर, जैसे गिलास में थोड़ी-सी हमदर्दी उंडेलकर सिख की ओर बढ़ाते हुए कहा, "तब तो आप शरणार्थी हैं···"

सिख ने मानो गिलास को 'जी, मैं नहीं पीता' कहकर ठेलते हुए, एक सूखी हंसी हंसकर कहा, जिसकी अनुगूंज हिन्दू महाशय के कान नहीं पकड़

सके, "जी।"

हिन्दू महाशय ने तनिक और दिलचस्पी के साथ कहा, "आपके घर के लोगों पर तो बहुत बुरी बीती होगी..."

सिख की आंखों में एक पल के अंश-भर के लिए अंगार चमक गया, पर वह इस दाने को भी चुगने न बढ़ा। चुप रहा।

हिन्दू ने सुरैया की ओर देखते हुए कहा, "दिल्ली में कुछ लोग बताते थे, वहां उन्होंने क्या-क्या ज़ुल्म किए हैं हिन्दुओं और सिखों पर। कैसी-कैसी बातें वे बताते थे, क्या बताऊं, ज़बान पर लाते शर्म आती है। औरतों को नंगा करके..."

सिख ने अपने पास पोटली बनकर बैठे दूसरे व्यक्ति से कहा, "काका, तुम ऊपर चढ़कर सो रहो।" स्पष्ट ही वह सिख का लड़का था, और जब उसने आदेश पाकर उठकर अपने सोलह-सत्रह बरस के छरहरे बदन को अंगड़ाई में सीधा करके ऊपरी बर्थ की ओर देखा, तब उसकी आंखों में भी पिता की आंखों का प्रतिबिंब झलक आया। वह ऊपरी बर्थ पर चढ़कर लेट गया, नीचे सिख ने अपनी टांगें सीधी कीं और खिड़की से बाहर की ओर देखने लगा।

हिन्दू महाशय की बात बीच में रुक गई थी, उन्होंने फिर आरंभ किया, "बाप-भाइयों के सामने ही बेटियों-बहिनों को नंगा करके..."

सिख ने कहा, "बाबू साहब, हमने जो देखा है वह आप हमींको क्या बताएंगे..." इस बार वह अनुगूंज पहले से स्पष्ट थी, लेकिन हिन्दू महाशय ने अब भी नहीं सुनी। मानो शह पाकर बोले, "आप ठीक कहते हैं...हम लोग भला आपका दुःख कैसे समझ सकते हैं! हमदर्दी हम कर सकते हैं, पर हमदर्दी भी कैसी जब दर्द कितना बड़ा है यही न समझ पाएं! भला बताइए हम कैसे पूरी तरह समझ सकते हैं कि उन सिखों के मन पर क्या बीती होगी जिनकी आंखों के सामने उनकी बहू-बेटियों को..."

सिख ने संयम से कांपते हुए स्वर में कहा, "बहू-बेटियां सबकी होती हैं, बाबू साहब।"

हिन्दू महाशय तनिक-से अप्रतिभ हुए कि सरदार की बात का ठीक आशय उनकी समझ में नहीं आ रहा। किन्तु अधिक देर तक नहीं। बोले, "अब तो हिन्दू-सिख भी चेते हैं। बदला लेना बुरा है, लेकिन कहां तक कोई सहेगा ? इधर दिल्ली में तो उन्होंने डटकर मोर्चे लिए हैं, और कहीं-कहीं तो ईंट का जवाब पत्थर से देनेवाली मसल सच्ची कर दिखाई है। सच पूछो तो इलाज ही यही है। सुना है करोल बाग में किसी मुसलमान डॉक्टर की लड़की को···"

अबकी बार सिख की वाणी में कोई अनुगूंज नहीं थी, एक प्रकट और रड़कनेवाली रुखाई थी। बोला, "बाबू साहब, औरत की बेइज़्ज़ती सबके लिए शर्म की बात है। और बहिन···" यहां सिख सुरैया की ओर मुखातिब हुआ, "आपसे मैं माफी मांगता हूं कि आपको यह सुनना पड़ रहा है।"

हिन्दू महाशय ने अचकचाकर कहा, "क्या-क्या-क्या-क्या ? मैंने इन-से कुछ थोड़े ही कहा है ?" फिर मानो अपने को कुछ संभालते हुए, और ढिठाई से कहा, "ये—आपके साथ हैं ?"

सिख ने और भी रुखाई से कहा, "जी। अलीगढ़ तक मैं पहुंचा रहा हूं।"

सुरैया के मन में किसीने कहा, "यह बिचारा शरीफ आदमी अलीगढ़ जा रहा है। अलीगढ़-अलीगढ़···" उसने साहस करके पूछा, "आप अली-गढ़ उतरेंगे।

"हां।"

"वहां कोई हैं आपके ?"

"मेरा कहां कौन है ? लड़का तो मेरे साथ है।"

"वहां कैसे जा रहे हैं ? रहेंगे ?"

"नहीं, कल लौट आऊंगा।"

"तो—तफरीहन जा रहे हैं।"

"तफरीह !" सिख ने खोए-से स्वर में कहा, "तफरीह !" फिर संभल-कर, "नहीं; हम कहीं नहीं जा रहे—अभी सोच रहे हैं कि कहां जाएं—

और जब टिकाऊ कुछ न रहें तब चलती गाड़ी में ही कुछ सोचा जा सकता है…"

सुरैया के मन में फिर किसीने कोंचकर कहा, 'अलीगढ़…अलीगढ़… बेचारा शरीफ है…'

उसने कहा, "अलीगढ़—अच्छी जगह नहीं है। आप क्यों जाते हैं ?"

हिन्दू महाशय ने भी कहा, जैसे किसी पागल पर तरस खा रहे हों, "भला पूछिए—"

"मुझे क्या अच्छी और क्या बुरी !"

"फिर भी—आपको डर नहीं लगता ? कोई छुरा ही मार दे रात में…"

सिख ने मुस्कराकर कहा, "उसे कोई नजात समझ सकता है, यह आपने कभी सोचा है ?"

"कैसी बातें करते हैं आप !"

"और क्या ! मारेगा भी कौन ? या मुसलमान, या हिन्दू। मुसलमान मारेगा, तो जहां घर के और सब लोग गए हैं वहीं मैं भी जा मिलूंगा; और अगर हिन्दू मारेगा, तो सोच लूंगा कि यही कसर बाकी थी—देश में जो बीमारी फैली है वह अपने शिखर पर पहुंच गई—और अब तन्दुरुस्ती का रास्ता शुरू होगा।"

"मगर भला हिन्दू क्यों मारेगा ? हिन्दू लाख बुरा हो, ऐसा काम नहीं करेगा…"

सरदार को एकाएक गुस्सा चढ़ आया। उसने तिरस्कारपूर्वक कहा, "रहने दीजिए, बाबू साहब ! अभी आप ही जैसे रस ले-लेकर दिल्ली की बातें सुना रहे थे—अगर आपके पास छुरा होता और आपको अपने लिए कोई खतरा न होता, तो आप क्या—अपने साथ बैठी सवारियों को बख्श देते ? इन्हें—या मैं बीच में पड़ता तो मुझे ?" हिन्दू महाशय कुछ बोलने को हुए पर हाथ के अधिकारपूर्ण इशारे से उन्हें रोकते हुए सरदार कहता गया, "अब आप सुनना ही चाहते हैं तो सुन लीजिए कान खोलकर। मुझ-

से आप हमदर्दी दिखाते हैं कि मैं आपका शरणार्थी हूं। हमदर्दी बड़ी चीज़ है, मैं अपने को निहाल समझता अगर आप हमदर्दी देने के काबिल होते। लेकिन आप मेरा दर्द कैसे जान सकते हैं जब आप उसी सांस में दिल्ली की बातें ऐसे बेदर्द ढंग से करते हैं? मुझसे आप हमदर्दी कर सकते होते—उतना दिल आपमें होता तो जो बातें आप सुनाना चाहते हैं उनसे शर्म के मारे आपकी ज़बान बंद हो गई होती—सिर नीचा हो गया होता! औरत की बेइज़्ज़ती औरत की बेइज़्ज़ती है, वह हिंदू या मुसलमान की नहीं, वह इनसान की मां की बेइज़्ज़ती है। शेखूपुरे में हमारे साथ जो हुआ सो हुआ—मगर मैं जानता हूं कि उसका मैं बदला कभी नहीं ले सकता—क्योंकि उसका बदला हो ही नहीं सकता! मैं बदला दे सकता हूं—और वह यही, कि मेरे साथ जो हुआ है, वह और किसीके साथ न हो। इसीलिए दिल्ली और अलीगढ़ के बीच इधर और उधर लोगों को पहुंचाता हूं मैं; मेरे दिन भी कटते हैं और कुछ बदला चुका भी पाता हूं, इसी तरह, अगर कोई किसी दिन मार देगा तो बदला पूरा हो जाएगा—चाहे मुसलमान मारे, चाहे हिंदू! मेरा मकसद तो इतना है कि चाहे हिंदू हो, चाहे सिख हो, चाहे मुसलमान हो, जो मैंने देखा है वह किसीको न देखना पड़े; और मरने से पहले मेरे घर के लोगों की जो गति हुई, वह परमात्मा न करे किसीकी बहू-बेटियों को देखनी पड़े!"

इसके बाद बहुत देर तक गाड़ी में बिलकुल सन्नाटा रहा। अलीगढ़ के पहले जब गाड़ी धीमी हुई, तब सुरैया ने बहुत चाहा कि सरदार से शुक्रिया के दो शब्द कह दे, पर उसके मुंह से भी बोल नहीं निकला।

सरदार ने ही आधे उठकर ऊपर के बर्थ की ओर पुकारा, "काका, उठो, अलीगढ़ आ गया है।" फिर हिंदू महाशय की ओर देखकर बोला, "बाबू साहब, कुछ कड़ी बात कह गया हूं तो माफ करना, हम लोग तो आपकी सरन हैं।"

हिंदू महाशय की मुद्रा से स्पष्ट दीखा कि वहां वह सिख न उतर रहा होता तो वे स्वयं उतरकर दूसरे डिब्बे में जा बैठते।

खितीन बाबू

वो चेहरे। कौन-से चेहरे? कौन-सा चेहरा? जो जीवन-भर चेहरों की स्मृतियां संग्रह करता आया है, उसके लिए यह बहुत कठिन है कि किसी एक चेहरे को अलग निकालकर कह दे कि यह चेहरा मुझे नहीं भूलता; क्योंकि जिसने भी जो चेहरा वास्तव में देखा है, सचमुच देखा है, वह उसे भूल ही नहीं सकता—फिर वह चेहरा मनुष्य का न होकर चाहे पशु-पक्षी का ही क्यों न हो···यूरोपीय को हर हिन्दुस्तानी का चेहरा एक जान पड़ता है; हिन्दुस्तानी को हर फिरंगी का चेहरा एक। मानव को सब पशु एक-से दीखते हैं। वह भी एक तरह का देखना ही है। लेकिन जिसने सचमुच कोई भी चेहरा देखा है, वह जानता है कि हर व्यक्ति अद्वितीय है, हर चेहरा स्मरणीय। सवाल यही है कि हम उसके विशिष्ट पहलू को देखने की आंखें रखते हों।

मैं भी जब किसी एक चेहरे पर ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूं, तो और अनेक चेहरे सामने आकर उलाहना देते हैं, "क्या हम नहीं? क्या हमें तुम भूल गए हो?" इनमें पुरुष हैं, स्त्रियां हैं, बच्चे हैं; इतर प्राणियों में घोड़े हैं, कुत्ते हैं, तोते हैं; एक गिलहरी है, जो मैंने पाली थी और मेरी जेब में रहती थी; एक मुनाल है, जो मेरी गोली से घायल होकर चीखता हुआ मीलों दौड़ा था; एक कुत्ता है जो मेरी बीमारी में मेरे सिरहाने बैठकर आंसू गिराता था; एक टूटी चोंच और कटे पंखवाला कौआ है, जो मुलतान-जेल में मेरा दोस्त बना था और 'परकटे' नाम से पुकारने पर आधा उड़ता और उचकता हुआ आकर हाज़िर हो जाता था—कहां तक गिनाया जाए, पेड़-पौधों के हम चेहरे नहीं मानते, नहीं तो शायद वे भी सामने आ खड़े होते। कालिदास ने शकुन्तला के जाने पर रोती हुई वनस्पतियों का वर्णन

किया है :

"अपसृतपांडुपत्रा मुंचति अश्रु इव लताः ।"

मेरी सहानुभूति उतनी दूर तक शायद नहीं है, लेकिन चेहरों का मेरे पास यथेष्ट संग्रह है—सभी अद्वितीय, सभी स्मरणीय । अगर एक चुनता हूं, तो किसी असाधारणत्व के लिए नहीं । चुनता हूं एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति का अत्यन्त साधारण चेहरा ; क्योंकि यही तो मैं कहना चाहता हूं—असाधारण ही स्मरणीय नहीं है, हर गुदड़ी में लाल है, ज़रा उसे लौटकर झांकने का कष्ट तो करो ।

वो चेहरे । वह एक चेहरा । खितीन बाबू का चेहरा न सुन्दर था, न असाधारण; न वह 'बड़े आदमी' ही थे—साधारण पढ़े-लिखे साधारण क्लर्क। मैंने पहले-पहल उन्हें देखा, तो कोई देखने की बात उनमें नहीं थी। इतनाही कि औरों से भी कुछ कम उनके पास देखने के लायक था; चेचक के दागों से भरे चेहरे पर एक आंख गायब थी और एक बांह भी नहीं थी—कोट की आस्तीन पिन लगाकर बदन के साथ जोड़ दी गई थी । काने को अपशकुन तो मानते ही हैं, अति चतुर भी मानते हैं; पर खितीन बाबू की हंसी में एक विलक्षण खुलापन और ऋजुता थी, इसलिए बाद में औरों से उनके बारे में पूछा, तो मालूम हुआ, आंख बचपन में चेचक के कारण जाती रही थी, बांह पेड़ से गिरने पर टूट गई थी और कटवा देनी पड़ी । उनके हंसमुख और मिलनसार स्वभाव की सभी प्रशंसा करते थे ।

मेरी उनसे भेंट अचानक एक मित्र के घर हो गई थी । मैं दौरे पर जानेवाला था, इसलिए दोस्तों से मिल रहा था । दो-तीन महीने घूम-घाम-कर फिर आया; लेकिन खितीन बाबू के दर्शन कोई छः महीने बाद उन्हीं मित्र के यहां हुए—अबकी बार उनकी एक टांग भी नहीं थी । रेलगाड़ी की दुर्घटना में टांग कट जाने से वे अस्पताल में पड़े रहे थे, वहां से बैसा-खियों का उपयोग सीखकर बाहर निकले थे ।

उनके लिए घटना पुरानी हो गई थी, मेरे लिए तो नई सूचना थी । मैं सहानुभूति भी प्रकट करना चाहता था; पर झिझक भी रहा था, क्योंकि

किसीकी असमर्थता की ओर इशारा भी उसे असमंजस में डाल देता है; कि उन्होंने स्वयं हाथ बढ़ाकर पुकारा, "आइए, आइए, आपको अपने नये आविष्कार की बात बतानी है।" उनसे हाथ मिलाते हुए समझ में आया कि एक अवयव के चले जाने से दूसरे की शक्ति कैसे दुगुनी हो जाती है। वैसी ज़ोर की पकड़ जीवन में एक-आध बार ही किसी हाथ से पाई होगी। मैं बैठ ही रहा था कि वे बोले, "देखा आपने, कितना व्यर्थ बोझा आदमी ढोता चलता है ? मैंने टांसिल कटवाए थे, कोई कमी नहीं मालूम हुई ; एपेंडिक्स कटवाई, कुछ नहीं गया; केवल उसका दर्द गया। भगवान औघड़ दानी हैं न, सब कुछ फालतू देते हैं—दो हाथ, दो कान, दो आंखें ! अब जीभ तो एक है; आप ही बताइए, आपको कभी स्वाद लेने के साधन की कमी मालूम हुई है ?"

मैं अवाक् उन्हें देखता रहा। पर उनकी हंसी सच्ची हंसी थी, और उनकी आंखों में जीवन का जो आनन्द चमक रहा था, उसमें कहीं अधूरे-पन की पंगुता की झाईं नहीं थी। उन्होंने शरीर के अवयवों के बारे में अपनी एक अद्भुत थ्योरी भी मुझे बताई थी; यह ठीक याद नहीं कि वह इसी दूसरी भेंट में या और किसी बार, लेकिन थ्योरी मुझे याद है, और उनका पूरा जीवन उसका प्रमाण रहा। वैसे शायद बताई होगी उन्होंने थोड़ी-थोड़ी करके दो-तीन किस्तों में।

तीसरी बार मैंने देखा, तो वे दूसरी बांह भी खो चुके थे। मालूम हुआ कि रिक्शे से उतरते समय गिर गए थे; कोहनी टूट गई थी और फिर घाव दूषित हो गया, जिससे कोहनी से कुछ ऊपर से बांह काट दी गई। इस बार भी भेंट तो उन्हीं मित्र के यहां हुई, मगर उनकी बैठक में नहीं, उनके रसोईघर में। मित्र-पत्नी भोजन बना रही थीं, और खितीन बाबू एक मूढ़े पर बैठे हुए बताते जा रहे थे कि कौन व्यंजन कैसे बनेगा। वे खाने के शौकीन तो थे ही, खिलाने का शौक उन्हें और भी अधिक था, और पाकविद्या के आचार्य थे। मेरे मित्र ने उनकी दावत की थी। दावत का उपलक्ष्य बताया नहीं गया था, लेकिन था यही कि खितीनदा बच गए और

अस्पताल से लौट आए; क्योंकि इस बार कई दिन तक उनकी स्थिति संक-टापन्न रही थी। खितीनदा भी इस बात को समझ गए थे, तभी उन्होंने कहा था, "दावत रही और तुम्हारे यहां ही रही ; पर दूंगा मैं और सब कुछ मैं ही बनाऊंगा।" और खुलासा यह किया था कि वे रसोईघर में बैठकर सब कुछ अपनी देख-रेख में बनवाएंगे; बनाएंगी गृहपत्नी, मगर विधान खितीन बाबू का होगा। मित्र ने यह बात सहर्ष मान ली थी। खितीन बाबू का उत्साह इतना था कि वही सबके लिए सहारा बन जाता था।

मैं भी एक मूढ़ा लेकर उनके पास बैठ गया। निमंत्रण मुझे भी बाहर ही मिल चुका था। मैंने गृहपत्नी से पूछा, "क्या बना रही हैं?" और उन्होंने उत्तर दिया, "मैं क्या बना रही हूं, बना तो खितीनदा रहे हैं।" इसपर खितीनदा बोले, "हां; मेरा छुआ हुआ आप खा तो लेंगे न?" और ठहाका मारकर हंस दिए। उनका छुआ हुआ, जिनके दोनों हाथ नदारद! फिर बोले, "आपने भोजन-विलासी और शय्या-विलासी की कहानी सुनी है?"

मैंने नहीं सुनी थी। वे सुनाने लगे। एक राजा के पास दो व्यक्ति नौकरी की तलाश में आए। पूछने पर एक ने कहा, "मैं भोजन-विलासी हूं।" यानी? यानी राजा जो भोजन करेंगे, उसे पहले चखकर वह बताएगा कि भोजन राजा के योग्य है या नहीं। जांच के लिए उसी दिन का भोजन लाया गया; थाली पास आते-न-आते भोजन-विलासी ने नाक बन्द करते हुए चिल्लाकर कहा, "ऊं-हूं-हूं, ले जाओ; इसमें से मुर्दे की बू आती है!" बहुत खोज करने पर मालूम हुआ, जिस खेत के धान से राजा के लिए चावल आए थे, उसके किनारे के पेड़ में एक मरा हुआ पक्षी टंगा था! भोजन-विलासी को नौकरी मिल गई। शय्या-विलासी ने बताया कि वह राजा के बिछौने की परीक्षा करेगा। उसे शयन-कक्ष में ले जाया गया। मखमली गद्दे पर वह ज़रा बैठा ही था कि कमर पकड़कर चीखता हुआ उठ खड़ा हुआ, "अरे रे, मेरी तो पीठ में बल पड़ गया; क्या बिछाया है किसीने!" सबने देखा, कहीं कोई सलवट तक न थी; सब गद्दे-वद्दे उठाकर झाड़े गए, कहीं कुछ नहीं था जो विलासी की कमर में चुभ सकता—पर हां, आखिरी गद्दे के

नीचे एक बाल पड़ा हुआ था ! इस प्रकार शय्या-विलासी को भी नौकरी मिल गई।

कहानी सुनाकर खितीन बाबू बोले, "वह भी क्या ज़माने थे !"

मित्र-पत्नी ने कहा, "आप उन दिनों होते, तो क्या बात होती न ?"

खितीनदा ने कहा, "और नहीं तो क्या। मैं होता, तो राजा को दो नौकर थोड़े ही रखने पड़ते ?"

मित्र-पत्नी ने मेरी ओर उन्मुख होकर कहा, "खितीन बाबू गाते भी बहुत सुन्दर हैं।"

खितीनदा फिर हंसे। बोले, "हां, हां, संगीत-विलासी की नौकरी भी मैं ही कर लेता न ?"

चार बजे भोजन तैयार हुआ; हम आठ-दस आदमियों ने खाया। मेरे लिए स्मरणीय स्वादों में भोजन का स्वाद प्रधान नहीं है, फिर भी उस भोजन की याद अभी बनी है।

तब लगातार दो-चार दिन उनसे भेंट होती रही; पर उसके बाद मैंने खितीन बाबू को एक बार और देखा, एक लम्बी अवधि के बाद। और अबकी बार उनकी दूसरी टांग भी मूल से गायब थी।

दोनों हाथ नहीं, दोनों टांगें नहीं, एक आंख नहीं। टांसिल, एपेंडिक्स वगैरह तो, जैसा वे स्वयं कहते, रूंगे में चढ़ा दी जा सकती हैं। केवल एक स्थाणु : बैठक में गद्देदार मूढ़े पर बैठा था। घर तक वे एक विशेष पहियेदार कुर्सी में लाए गए थे, लेकिन वह कुर्सी कमरे में ले जाने में उन्हें आपत्ति थी; क्योंकि वह अपाहिजों की कुर्सी है। कुर्सी से उठाकर उन्हें भीतर ला बिठाया गया था, और यहां वे सहज भाव से बैठे थे। मानो किसी स्वप्नाविष्ट चतुर मूर्तिकार ने पत्थर से मस्तक और कन्धे तो पूरे गढ़ दिए हों, बाकी स्तम्भ अछूता छोड़ दिया हो।

मैं जाकर चुपके से एक तरफ बैठ गया—वे कुछ बात कर रहे थे। उन्हें देखते हुए मुझे बचपन में आत्मा के सम्बन्ध में की गई अपनी बहसें याद आ गईं। आत्मा है, तो सारे शरीर में व्याप्त है, या किसी एक अंग में

रहती है ? अगर सारे शरीर में, तो कोई अंग कट जाने पर क्या आत्मा भी उतनी कट जाती है ? अगर एक अंग में, तो अंग कट जाने पर क्या होता है ? अपनी थ्योरी याद आ गई, जिसमें इस पहेली को हल कर दिया गया था; कि जब कोई अंग कटता है, तो उसमें से आत्मा सिमटकर बाकी शरीर में आ जाती है, पंगु नहीं होती। यह थ्योरी कहां तक मान्य है, इस बहस में तो वैज्ञानिक पड़ें; पर उनको देखते हुए उनके बारे में ज़रूर इसकी सचाई मानो ज्वलन्त होकर सामने आ जाती थी, उनकी आत्मा न केवल पंगु-नहीं थी, वरन् शरीर के अवयव जितने कम होते जाते थे, उसमें आत्मा की कान्ति मानो उतनी बढ़ती जाती थी—मानो व्यर्थ अंगों से सिमट-सिमटकर आत्मा बचे हुए शरीर में और घनी पुंजित होती जाती—सारे शरीर में भी नहीं, एक अकेली आंख में—प्रेतात्माओं से भरे हुए विशाल शून्य में निष्कम्प दिपते हुए एक आकाश-दीप के समान···

तभी खितीन बाबू ने मुझे देखा। छूटते ही बोले, "बोले छिलाम, बेचे, थाक्ते बेशि किछु लागे न !" (मैंने कहा था, बचे रहने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं चाहिए !) और हंस दिए।

इसके बाद मैंने फिर खितीन बाबू को नहीं देखा। कहानी की पूर्णता के लिए एक बार और देखना चाहिए था; पर मैं कहानी नहीं सुना रहा, सच्ची बात सुना रहा हूं। तो मैंने उन्हें फिर नहीं देखा। लेकिन सुननेवाले की कमी में कहानी नहीं रुकती, देखनेवाला न होने से जीवन-नाटक बन्द नहीं हो जाता। मैंने भी सुनकर ही जाना; खितीन बाबू की कहानी अपने चरम उत्कर्ष तक पहुंचकर ही पूरी हुई : टहलने ले जाते समय उनकी पहियेदार कुर्सी एक मोटर ठेले से टकरा गई थी, वे नीचे आ गए और गाड़ी का पहिया उनके कन्धे के ऊपर से चला गया—बांह का जो ठूंठ बचा हुआ था, उसे भी चूर करता हुआ। वे अस्पताल ले जाए गए, बांह अलग की गई और कन्धे की पट्टी हुई; ऑपरेशन के बाद उन्हें होश रहा और उन्होंने पूछा कि कन्धा है या नहीं ? फिर कहा, "जाना गेलो, एटा छाड़ाओ चले !" (मालूम हो गया कि इसके बिना भी चल सकता है !) लेकिन

अबकी बार वह चलना अधिक देर तक नहीं हुआ ; अस्पताल से वे नहीं निकले। शरीर में विष फैल गया और भोर में अनजाने में उनकी मृत्यु हो गई।

खितीन बाबू : एक साधारण क्लर्क : साधारण दुर्घटना : मृत्यु हो गई। लेकिन क्या सचमुच ? मैं अब भी उन्हें देख सकता हूं। कभी लगता है कि जिसे देखता हूं वह केवल अंगहीन ही नहीं है, मानो अशरीरी ही है; केवल एक दीप्ति—अंगों से क्या ? अवयवों से क्या ? 'जाना गेलो, एटा छाड़ाओ चले'—इस सबके बिना काम चल सकता है। केवल दीप्ति : केवल संकल्प-शक्ति। रोटी, कपड़ा, आसरा, हम चिल्लाते हैं, ये सब ज़रूरी हैं, निस्सन्देह जीवन के एक स्तर पर ये सब निहायत ज़रूरी हैं, लेकिन मानव-ज़ीवन की मौलिक प्रतिज्ञा ये नहीं हैं; वह है केवल मानव का अदम्य, अटूट संकल्प···

कविता और जीवन—एक कहानी

मैं आपको सिर्फ कहानी नहीं, कहानी से कहीं अधिक कुछ सुनाने लगा हूं। जरा कान लगाकर—नहीं कान से अधिक मन लगाकर—सुन लीजिए। जो गाली आप देना चाहते हैं—पढ़कर आप गाली देंगे, यह तो निश्चित है—उसे जरा अन्त तक रोक रखिए। 'सब्र का फल मीठा होता है'—क्या पता आपके सब्र का मुझे मिलनेवाला फल वह गाली भी मीठी हो जाए ? इस 'कहानी' पर कलम घिसने का पारिश्रमिक मुझे नहीं मिलेगा, यह तो आप जानते होंगे, इसलिए गाली के बारे में फिक्रमन्द होने के लिए आप मुझे क्षमा कर देंगे, यह उम्मीद है।

और जब 'कहानी से अधिक कुछ' कहने लगा हूं, तब प्लॉट-कथानक के झगड़े में क्या पड़ना ! ये छोटी बातें कहानी के लिए ठीक होती हैं। यहां तो जो सामने आ जाए वही उपयुक्त है। तो लीजिए, याद आती है हरद्वार की एक बात—

शिवसुन्दर को सूझा था कि वह कलकत्ते में रहकर गली-गली की खाक छानकर कविता करना चाहता है, तभी कविता नहीं बनती। बंगाली क्लर्क, सिख ड्राइवर, एंग्लो-इंडियन लोफर-लफंगे, बिहारी कांस्टेबल और सभी जगह के भिखमंगे—सब आदमी, आदमी, आदमी—भला यह भी कोई कविता का विषय है ! इनसान और कविता—हुंह ! कविता के लिए चाहिए प्रकृति—नदी-नाले, पलाश के उपवन, लता-फूल, मलय पवन और दूर कहीं कुछ अस्पष्ट, अदृष्ट—नहीं, दूर कहीं किसी नूपुर-वलयित रहस्य-मयी की पगध्वनि···और इस सूझ के उठते ही वह बोरिया-बिस्तर—बिस्तर कम बोरिया अधिक—लेकर हरद्वार चला आया था। गुरुकुल की

तरफ नहर के किनारे एकान्त में एक मकान में सिरे का कमरा उसे मिल गया था, वहीं रहकर वह कविता के प्रादुर्भाव की प्रतीक्षा कर रहा था।

वह अभी तक प्रकटी नहीं थी। दिन-भर अरहर के खेतों में भटकना उसे अच्छा लगा था, दूर एक पहाड़ी की चोटी पर बने हुए देवी के मन्दिर की आड़ में सूर्य का मुंह छिपा लेना और भी अच्छा लगा था; और शाम को गंगा की ओर से जो तेज़ और शीत हवा आकर बारीक पिसी हुई रेत का परिमल उसके सारे चेहरे पर चिपका गई थी, वह भी उसे बुरी नहीं लगी थी···लेकिन अच्छे लगकर ही ये सब रह गए थे, जिस दैवी घटना की, उन्मेष की आशा उसने की थी, वह नहीं हुआ था। रात को चारपाई पर लेटा-लेटा वह सोच रहा था कि क्यों नहीं हुआ वह उन्मेष, और कुछ उत्तर नहीं पा रहा था। केवल एक अतृप्ति-सी उसे घेर रही थी। वह कभी ऊंघ लेता, फिर जाग जाता; और जागने पर न जाने क्यों उसे सूना-सूना लगता और झल्लाहट होती। उसे लगता कि जीवन बहुत अधिक नीरस है, उसे जीने के लिए कविता की ज़रूरत है, मुखर सौन्दर्य की ज़रूरत है···

वह फिर ऊंघ गया और जब चौंककर जागा तब आधी रात थी। उस सन्नाटे में अकस्मात् जाग जाने का कारण उसे नहीं समझ आया, वह कान लगाकर सुनने लगा कि किस स्वर ने उसे जगाया था।

कुछ नहीं। यों ही जाग गया वह।

लेकिन···

उसे जान पड़ा कि कमरे की खिड़की के बाहर कहीं नूपुरों की ध्वनि हो रही है, रह-रहकर और बदल-बदलकर मानो कोई स्त्री संभ्रान्त गति से चल रही है, कभी रुककर और कभी तेज़ी से।

इतनी घनी रात में कौन बाहर ? और क्यों ?

शिवसुन्दर पूरी तरह जाग गया। उसकी अशान्ति केन्द्रित होकर एक तनी हुई-सी प्रतीक्षा बन गई।

नूपुरों की ध्वनि फिर आई। उसने कोशिश की, कान लगाकर पहचान सके कि कहां से आती है, लेकिन उसे लगा कि कभी वह एक तरफ

से आती है, कभी दूसरी ।

क्या हवा ही उसे धोखा दे रही है ? रह-रहकर एक मीठा-सा झोंका आ जाता है, कभी एक तरफ से, कभी दूसरी तरफ से । क्या इसीलिए तो नहीं वह स्वर भी भागता हुआ जान पड़ता ? क्योंकि किसी अभिसारिका का—यदि वह स्त्री अभिसारिका है तो, लेकिन और हो क्या सकती है ?—ऐसे समय इधर-उधर भागना, वह भी जब उसके पायल इतने ज़ोर से बज रहे हों, कुछ जंचता नहीं । कवि भी कह गए हैं—'मुखरमधीरं त्यज मंजीरं···'

तभी पायल बड़े ज़ोर से बज उठे—खनन्-खनन् !

शिवसुन्दर उठ बैठा । यह स्वर मानो उसके सिरहाने के पास से ही आ रहा था···उसका हृदय धक्-धक् करने लगा—इस एकान्त निर्जन स्थल में किसी अपरिचिता का इतना साहस···

पायल फिर बजे, और शिवसुन्दर जान गया कि वे कहां हैं । उसके सिरहाने के पास की खिड़की के बाहर ही वह स्वर है ।

लेकिन कौन है यह स्त्री, और इतनी रात वहां क्यों है ? और इतना हौसला उसका कैसे है···? शायद कोई पुंश्चली स्त्री होगी । लेकिन पुंश्चली होती तो क्या इससे अधिक चतुर न होती, चुपचाप न आती ?

शिवसुन्दर को प्रतीत हुआ कि बहुत तेज़ गति से बहुत-सा सोच जाने की ज़रूरत है । वह जल्दी-जल्दी दिन-भर में देखे हुए प्रत्येक स्त्री-मुख की याद करने लगा—कौन हो सकती है जो उसके पास आई है ?

···तमोलिन से जब पान लिया था, तब वह पैसा लेते हुए सिर मटकाकर मुस्करा दी थी । लेकिन उस मुस्कराहट में तो खास कोई बात नहीं थी । लगी तो वह ऐसी ही थी मानो गाहक का दस्तूर हो । जैसे पान के साथ तम्बाकू मुफ्त मिलता है, वैसे ही मुफ्त यह मुस्कान दी गई जान पड़ती थी । लेकिन कौन जाने, यह आधी रात में बजते हुए पायल भी उसके 'दस्तूर' में ही शामिल हों···

शाम को उसने हलवाई से दूध लिया था, तब हलवाई की लड़की भी

बैठी थी। शिवसुन्दर एकटक उसकी ओर देख रहा है, सहसा यह जानकर वह शर्म से लाल हो आई थी और भीतर चली गई थी। शर्म क्या है? पुरुष को आकर्षित करने का एक साधन—तभी तो मारवाड़िनें पति के सामने घूंघट निकालती हैं। लेकिन मेलों में अधनंगा नहा आती हैं—पति को आकर्षित करना होता है और गैर आदमी, आदमी थोड़े ही हैं, सिर्फ गैर हैं।

और वह मांगनेवाली औरत—ऐसी उसने कभी नहीं देखी थी। जब वह साधारण अपील से आकृष्ट नहीं हुआ, तब बोली, "तेरा धोवन पी लूं बाबू, एक पैसा दे, तेरा थूक चाट लूं बाबू···" जब इससे भी उसे ग्लानि ही हुई, तब, "तेरे गुलाबी गालों पै मरूं बाबू, एक पैसा दे। तेरी दाढ़ी को हाथ लगाऊं बाबू···" और बढ़कर उसकी ठोड़ी ही तो पकड़ ली थी उसने···

शिवसुन्दर उठकर खिड़की पर जा पहुंचा। आंखें फाड़-फाड़कर उसने बाहर देखा, कोई नहीं दीखा। वह फिर आकर चारपाई पर लेट गया।

और तभी पायल फिर बजे। वह फिर उठ बैठा।

अपने हृदय का स्पन्दन उसके लिए असह्य होने लगा। उसने फिर खिड़की पर जाकर देखा—कुछ नहीं। तब उसने एकदम किवाड़ खोल दिया और बाहर निकल आया। घर का चक्कर काटा, लेकिन कोई नहीं दीखा। वह फिर किवाड़ पर आकर रुका—कि दूर कहीं पायल फिर बजे। शायद वह स्त्री हताश होकर लौटी जा रही है, अरहर के खेतों में से वह स्वर आया था। शिवसुन्दर के भीतर उत्कण्ठा इतनी उमड़ आई थी कि अब उस रहस्य को खोल डालना बहुत ज़रूरी हो गया था—उस स्त्री को खोज लेना···और रात भी तीव्र गति से बीतती जा रही है, यह भी फिक्र उसे हो आई थी। नींद उसकी आंखों में नहीं थी, कुछ और था जो उसके लिए अभ्यस्त नहीं था और जिसका वह नाम नहीं जानता था···

वह लपककर अरहर के खेत में घुसा। उसके मन में आया, अगर मैं शब्दवेधी बाण चलाने की क्रिया जानता तो उसे बाणों से ऐसा घेर लेता कि एक जगह टिककर खड़ी रहती, लेकिन···लेकिन···

उसका हृदय धक् से हो गया—बहुत पास ही कहीं बहुत ही मधुर

कोमल स्वर से पायल बजे—खनन् ।

शिवसुन्दर की आतुर आंखों ने अन्धकार को भेद डालना चाहा, पर कुछ दीखा नहीं । उसे शीघ्र ही आने वाले सबेरे की याद आई, पर सबेरा हो जाने से सब चौपट हो जाएगा । उसने धीरे से पुकारा, "कौन हो तुम ?"

जवाब नहीं आया । उसने फिर कहा, "कौन हो ? इधर निकल आओ ।"

फिर भी उत्तर नहीं मिला । उसे बिहारी का एक दोहा याद आया, 'अरहर, कपास, ईख, सब कट जाएंगे···' अभी अरहर कटने के दिन नहीं आए, पर वह तो रात भी नहीं बीतने देना चाहता···उसने फिर पुकारा, "कहां हो तुम ?"

उत्तर में कुछ दूर पर पायल बजे । दाईं ओर कहीं पर—लेकिन नहीं, वे फिर बजे तो उसे प्रतीत हुआ कि बाईं ओर हैं । वह खेत से बाहर निकलकर मेंड़ पर आया, हताश-सा बैठ गया ।

हवा का झोंका कभी-कभी आता था, तब उसमें बसे हुए शीत से शिवसुन्दर का कुण्ठित मन और भी सिकुड़ जाता था···और तब दूर कहीं, कभी इधर, कभी उधर, पायल बज उठते थे···

रात या यों कहें कि भोर—क्योंकि पौ फटने ही वाली थी—अत्यन्त सुन्दर था । लेकिन शिवसुन्दर का ध्यान उधर नहीं था । वह मर्माहत-सा मेंड़ पर बैठा था···

ऊषा की एक लाल किरण आकाश में फिर गई । मानो देवी के आने के लिए मार्ग को बुहार गई, किसी मंगल-सूचक लाल चूर्ण से चौक पूर गई । शिवसुन्दर की थकी आंखों ने देखा, चारों ओर प्रकृति का लास है—नदी है, नहर है, पलाश के फूले हुए उपवन हैं, समीरण धीरे-धीरे बहने लगा है और फिर न जाने किसके पायलों की ध्वनि उसके पास लिए आ रहा है··· लेकिन इस सबकी जैसे उसपर छाप नहीं पड़ी । उसमें सिर्फ एक ही जिज्ञासा थी—जिसके पायल हैं, वह कहां है ?

पायल उसके हाथ के पास ही बजे। उसने चौंककर देखा, वहां एक छोटा-सा सूखा-सा पौधा था, और कुछ नहीं।

और पौधा हवा के झोंके में फिर कांपकर बोला—खनन्।

क्षण-भर शिवसुन्दर स्तब्ध रह गया, फिर मानो आकाश से गिरा··· फिर उसमें एकाएक निराशा का क्रोध उमड़ आया, उसने एक ही झटके में उस पौधे को जड़ समेत नोच लिया।

और उसके क्रोध-कम्पित हाथों में भी उस पौधे में लगी हुई पकी फलियों ने कहा—खनन्।

शिवसुन्दर ने उस हताशा में मानो सत्य को देख लिया, लेकिन समझने से पहले ही वह सत्य बुझ भी गया। उसने जाना कि वह सिर्फ कविता ही नहीं चाहता है, सिर्फ सौन्दर्य ही नहीं चाहता है, इससे अधिक कुछ चाहता है···लेकिन क्या चाहता है? वह नहीं जानता। इतना जानता है कि वह अतृप्त रह गया है, भूखा रह गया है, चौंककर ऐसे जाग गया है कि उन्निद्र हो गया है, उसे···

शिवसुन्दर धीरे-धीरे घर लौटा। रात-भर की घटनाएं मानो एक पहले कभी सुने हुए ग्राम्यगीत की एक पंक्ति में सिमटकर उसके मन में गूंजने लगीं, 'तेरी पैंजणिया न्यूं बाजे ज्यूं बाजे बीज सणी दा।' बेवकूफ कहीं का—उलटी बात कहता है। आखिर गंवार रहा होगा। 'बीज सणी दा न्यूं बाजे ज्यूं बाजे तेरी पैंजणिया' होना चाहिए था।

पर घर पहुंचते-पहुंचते वे घटनाएं इससे भी छोटे एक सूत्र में सिमट आईं—वह जीवन मांगता है।

कविता मांगना, सौन्दर्य मांगना बेवकूफी है।

जहां जीवन नहीं है, वहां कविता क्या और सौन्दर्य क्या? वे होंगे वैसे ही खोखले जैसा यह बजता हुआ सनी का बीज।

—तब फिर कलकत्ता? लेकिन कलकत्ता जीवन कहां है, वह तो निरा सत्य ही सत्य है, कड़ुवाहट ही कड़ुवाहट है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'—

और कड़ुवा अधिक से अधिक छः रसों में से एक है, तब सत्य भी जीवन का अधिक से अधिक एक छठा हिस्सा है···बाकी पांच ? और कहा है, 'मधुरेण समापयेत् ।' मधुर नहीं तो कुछ नहीं—वही रसों में रस है···

शिवसुन्दर को समझ आ गया कि उसने गुरुकुल की तरफ आकर गलती की। वह सामान लेकर हर की पौड़ी पहुंचा, वहां मेले की भीड़ को चीरता हुआ भीतर घुसा और अन्त में ठीक-ठाक करके उसने एक कमरा ले लिया जिससे गंगा और उसके पार की पहाड़ियां भी दीखती थीं, और इस पार घाट की सीढ़ियां, उसपर आने-जानेवाली भक्त-भक्तिनियों की भीड़ें और ऊपर का रास्ता भी दीखता था।

सामान एक ओर रखकर वह झरोखे पर बैठ गया और नीचे झांकने लगा।

जीवन पाने का यही एक ढंग है। कलकत्ता में तो आदमी पिस जाता है—और वह भी किनमें ? गन्दे, मैले-कुचैले लोगों में जिनसे छू जाने पर दिन-भर अपने शरीर से बू आती है। यहां और बात है—सौन्दर्य भी है, लोग भी हैं, गति भी है, और फिर भी वह अलग है, इस भीड़-भड़क्के के अधीन नहीं, उससे ऊपर है, दर्शक है। दर्शक होकर ही जीवन से काव्य-रस खींचा जा सकता है—जो स्वयं उसमें पड़ गया वह तो तिल हो गया जिसे पेरकर तेल खींचा जाएगा।

शिवसुन्दर की दृष्टि नीचे घाट की सीढ़ियां चढ़ती हुई दो स्त्रियों पर टिक गई। तभी न जाने क्यों उन्होंने भी आपस में बात करते-करते ही ऊपर देखा, शिवसुन्दर से आंख मिलने पर वे मुस्करा दीं और आगे बढ़ गईं।

हां, ठीक तो है, जिस चीज की ओर यह इशारा है, वह प्रेम ही तो है। जीवन ही तो है, क्योंकि जीवन का मधुरतम रस है।

लेकिन मन शिवसुन्दर का चाहे जितना भागे, दृष्टि उसकी नीचे ही लगी हुई थी। दो और स्त्रियां उसके दृष्टि-पथ पर गुज़र रही थीं। शिवसुन्दर एकटक उनकी ओर देख रहा था। एक ने तिरछी चितवन से उसे देखा। वह दृष्टि मानो कौंधकर कुछ कह गई, पर दूसरी ने एक तीखी, सशंक

और कुछ-कुछ भीत दृष्टि अपनी संगिनी पर और शिवसुन्दर पर डाली, और अधिक तीव्र गति से आगे चल पड़ी।

शिवसुन्दर थोड़ा-सा मुस्करा दिया। फूल के साथ कांटे तो होने ही चाहिए, नहीं तो जीवन का मज़ा क्या। एक ओर आकर्षण, दूसरी ओर विघ्न, यही तो है जीवन।

न जाने क्यों, स्त्रियां जोड़ों में ही जा रही थीं, अकेली नहीं। एक और जोड़ा सामने से गुज़रा। इन्होंने भी न जाने क्यों झरोखे के पास आकर ऊपर देखा। उनकी दृष्टि में सन्देह पहले से था, जब उन्होंने शिवसुन्दर को एकटक देखते हुए पाया तब उसमें क्रोध भी आ मिला। अवज्ञा से सिर हिलाकर वे आगे निकल गईं।

शिवसुन्दर ने सोचा, विरोध में एक आकर्षण होता है, एक ललकार होती है। वह आह्वान करता है कि आओ, मुझसे दो-दो हाथ खेल लो। आचार्य भी कह गए हैं कि बिना संघर्ष के, बिना कानफ्लिक्ट के कला का विकास नहीं होता। हो कैसे सकता है?

ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता आता था, स्नानार्थी अधिकाधिक संख्या में आते जाते थे। अब औरतें भी झुंड बांध-बांधकर आ रही थीं, और झुंड ही लौटने लगे थे।

एक टोली शिवसुन्दर के झरोखे के नीचे से निकली। उन कई-एक औरतों में से एक ने भी आंख उठाकर नहीं देखा, उनके लिए मानो शिवसुन्दर था ही नहीं।

शिवसुन्दर ने तड़पकर कहा, 'नहीं, नहीं, यह नहीं है जीवन! यह झूठ है, यह असत् है, अशिव है, असुन्दर है, यह हो ही नहीं सकता, यह जीवन नहीं है।'

लेकिन वह समूह निकल गया। उसके बाद और भी कई टोलियां स्त्रियों की आईं और निकल गईं, पर किसीने नहीं देखा कि जीवन का भिक्षु शिवसुन्दर झरोखे में खड़ा है, वह प्रवाह उसकी आंखों के आगे से वैसे ही निकल गया जैसे नदी के बीच में अथाह पानी बहता हुआ चला

जाता है पर किनारे से सटे हुए और सड़ते हुए तृण को वहीं पड़ा रहने देता है, हिलाता भी नहीं···उसे लगा, वह समुद्र की लहरों द्वारा उच्छिष्ट रेत पर पड़े एक घोंघे के भीतर सड़ते हुए जीव की तरह है, कि वह इस प्रवाह के आगे जूठन की तरह अत्यन्त नगण्य, क्षुद्र हो गया है···

और उसने फिर तड़पकर कहा, 'नहीं यह झूठ है, यह नहीं है जीवन। मैं नहीं मांगता यह !'

लेकिन वह क्या मांगता है आखिर ? वह जानता है कि यह नहीं है जो उसने मांगा था, लेकिन क्या मांगा था उसने, यह तो वह नहीं जानता है। वह इतना ही जानता है कि वह क्षुद्र हो गया है, अपनी आंखों में गिर गया है, जबकि आशा थी उसे बड़े हो जाने की, स्वामित्व की···

वह झरोखे से हट गया और सोचने लगा, क्या मैं कलकत्ता लौट जाऊं? लेकिन इस विचार से वह सहम गया। कलकत्ता में तो कविता नहीं बनेगी, यहां शायद—इस अतृप्त और अपदस्थता में शायद···

विधि हंसती है। विधि है या नहीं, कौन जाने; पर वह हंसती ज़रूर है। मुहावरे ने उसे हंसने का हक दिया है···

लेकिन शिवसुन्दर की मांगें ? उसकी तृप्ति ? उसकी वासनाएं ?

विज्ञान की कुछ पुस्तकें उसकी समस्याओं का उत्तर देने की कोशिश करती हैं। लेकिन वे विदेशी हैं। विदेशी ज्ञान शिवसुन्दर क्यों चाहे ? वह हिन्दी लेखक है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। वह राष्ट्रभाषा का लेखक है। क्या इतना ही इसलिए पर्याप्त नहीं है कि वह आंखें बन्द करके गाया करे, गाया करे अपनी मांग के गान, अपनी अनुभूति के गीत, नहीं, अनुभूति के अपने अननुभव का आलाप ! चाहे वह गाना उस सिखाए हुए मंगते की पुकार की तरह क्यों न हो जो एक दमड़ी की उपलब्धि के लिए पहले स्वर में दीनता लाता है, फिर उस दीन स्वर को सुनकर स्वयं मान लेता है कि वह आर्त है? शिवसुन्दर भी तो आकाश के तारे तोड़ने का दम नहीं भरता, सामर्थ्य की डींग नहीं हांकता; अभिमान के तिक्त और कर्म के कषाय रसों से उसे क्या, वह तो 'मधुरेण समापन' चाहता है; वह तो मांगता है, सिर्फ

मांगता है एक छदाम !

अब आपको मौका है कि आप गाली दे लें। मेरी कहानी खत्म हो गई है। लेकिन जो कुछ आपको कहना है, जल्दी कह डालिए, क्योंकि मुझे अभी कुछ और निवेदन करना है। मैंने कहा था न, 'कहानी से अधिक कुछ' कहूंगा ?

शायद आपको लगे कि मैंने कहानी भी नहीं कही, अधिक की क्या बात ! लेकिन अगर आपको यह लगा है तो आप अब तक दिल के गुबार निकाल चुके होंगे। अन्त में 'अधिक कुछ' मुझे यह कहना है कि अगर मेरी रचना में आपको 'छोटे मुंह बड़ी बात' जान पड़ी हो, तो यह सोचकर क्षमा कर दीजिए कि आखिर मैं भी एक दुर्भाग्य का मारा एक हिन्दी-लेखक हूं; उस हैसियत से मैं भी आकाश के तारे तोड़ने या सामर्थ्य की डींग मारनेवाला, अभिमान का तिक्त और कर्म का कषाय रस पीनेवाला, कौन होता हूं, मैं भी तो मधुरेण समापयेत् के लिए मांगता हूं सिखाए हुए आर्त स्वर में आपकी दया का एक छदाम !

शिक्षा

गुरु थोड़ी देर चुपचाप वत्सल दृष्टि में नवागन्तुक की ओर देखते रहे। फिर उन्होंने मृदु स्वर में कहा, "वत्स, तुम मेरे पास आए हो इसे मैं तुम्हारी कृपा ही मानता हूं। जिनके द्वारा तुम भेजे गए हो उनका तो मुझपर अनुग्रह है ही कि उन्होंने मुझे इस योग्य समझा कि मैं तुम्हें कुछ सिखा सकूंगा। किन्तु मैं जानता हूं कि मैं इसका पात्र नहीं हूं। मेरे पास सिखाने को है ही क्या? मैं तो किसीको भी कुछ नहीं सिखा सकता, क्योंकि स्वयं निरन्तर सीखता ही रहता हूं। वास्तव में कोई भी किसीको कुछ सिखाता नहीं है, जो सीखता है अपने ही भीतर के किसी उन्मेष से सीख जाता है। जिन्हें गुरुत्व का श्रेय मिलता है वे वास्तव में केवल इस उन्मेष के निमित्त होते हैं। और निमित्त होने के लिए गुरु की क्या आवश्यकता है? सृष्टि में कोई भी वस्तु उन्मेष का निमित्त बन सकती है।"

नवागन्तुक ने सिर झुकाकर कहा, "मैंने तो यहां आने से पहले ही मन ही मन आपको अपना गुरु धार लिया है। आगे आपका जैसा आदेश हो।"

गुरु फिर बोले, "जैसी तुम्हारी इच्छा, वत्स। यहीं रहो। स्थान की यहां कमी नहीं है। अध्ययन और चिन्तन के लिए जैसी भी सुविधा की तुम्हें आवश्यकता हो, यहां हो ही जाएगी। और तो···" गुरु ने एक बार आंख उठाकर चारों ओर देखा, और फिर हाथ से अनिश्चित-सा संकेत करते हुए बोले, "यह सब ही है। देखो-सुनो, चाहो तो सोचो, जितना सको आनन्द प्राप्त करो।"

"क्या देखा?"

"गुरुदेव, मैंने एक पक्षी देखा। बहुत ही सुन्दर पक्षी!"

"और ?"

"इतना सुन्दर पक्षी ! मेरा मन हुआ कि अगर मैं भी ऐसा पक्षी होता आकाश में उड़ जाता और दूर-दूर तक विचरण करता ।"

गुरु थोड़ी देर स्थिर दृष्टि से युवक की ओर देखते रहे, फिर बिना उत्तेजना के बोले, "यह तो पाखंड है । जाओ, फिर देखो । सभी कुछ सुन्दर है । जितना सको आनन्द ग्रहण करो ।"

"क्या देखा ?"

"गुरुदेव, मैंने एक बड़ा सुन्दर पक्षी देखा । ऐसा अद्वीतीय सुन्दर !"

"फिर ?"

"मेरा मन हुआ कि किसी प्रकार उसे पकड़कर पिंजड़े में बन्द कर लूं, कि वह सर्वदा मेरे निकट रहे और मैं उसे देखा करूं ।"

"चलो, कुछ तो देखा ! पहले देखने से इस देखने में सत्य तो अधिक है ।" गुरु थोड़ी देर उसी खुली किन्तु रहस्यमय दृष्टि से शिष्य को देखते रहे । "अधिक सचाई है, किन्तु ज्ञान अभी नहीं है । जाओ, फिर देखो, सुनो । जितना सको आनन्द ग्रहण करो ।"

"क्या देखा ?"

"मैंने एक पक्षी देखा । अत्यन्त सुन्दर पक्षी । वैसा मैंने दूसरा नहीं देखा और कल्पना नहीं कर सकता कि भविष्य में कभी देखूंगा—कि इतना सुन्दर पक्षी हो भी सकता है ।"

"फिर ?"

"फिर कुछ नहीं गुरुदेव । मैं उसे देखता रहा और देखता ही रहा । मैंने अपने-आपसे कहा, यह पक्षी है, यह सुन्दर है, यह अप्रतिम है । फिर वह पक्षी उड़ गया । फिर मैंने अपने-आपसे कहा, मैंने देखा था, वह पक्षी सुन्दर था, और अप्रतिम था, और वह उड़ गया; किन्तु मुझे उस पक्षी से क्या ? उसका जीवा उसका है । फिर मैं चला आया ।"

गुरु स्थिर दृष्टि के शिष्य को देखते रहे। न उस दृष्टि के खुलेपन में कोई कमी हुई, न उसकी रहस्यमयता में। फिर उनका चेहरा एकाएक एक वात्सल्यपूर्ण स्मिति में खिल आया और उन्होंने कहा, "तो तुमने देख लिया। इतना ही ज्ञान है। इससे अधिक मेरे पास सिखाने को कुछ नहीं है। यह भी मेरे पास नहीं है, सर्वत्र बिखरा हुआ है। मैंने कहा था कि कोई किसीको कुछ सिखाता नहीं है। उन्मेष भीतर से होता है। गुरु निमित्त हो सकता है। किन्तु निमित्त तो कुछ भी हो सकता है।" एक बार फिर उनका हाथ उसी अस्पष्ट संकेत में उठा और फिर घुटने पर टिक गया।

"जाओ, वत्स! देखो-सुनो। जितना सको आनन्द ग्रहण करो!"

कलाकार की मुक्ति

मैं कहानी नहीं कहता। कहानी कहने का मन भी नहीं होता, और सच पूछो तो मुझे कहानी कहनी आती भी नहीं है। लेकिन जितना ही अधिक कहानी पढ़ता हूं या सुनता हूं उतना ही कुतूहल हुआ करता है कि कहानियां आखिर बनती कैसे हैं ? फिर यह भी सोचने लगता हूं कि अगर ऐसे न बन-कर ऐसे बनतीं तो कैसा रहता ? और यह प्रश्न हमेशा मुझे पुरानी या पौराणिक गाथाओं की ओर ले जाता है। कहते हैं कि पुराण-गाथाएं सब सर्वदा सच होती हैं क्योंकि उनका सत्य काव्य-सत्य होता है, वस्तु-सत्य नहीं। उस प्रतीक सत्य को युग के परिवर्तन नहीं छू सकते।

लेकिन क्या प्रतीक सत्य भी बदलते नहीं ? क्या सामूहिक अनुभव में कभी परिवर्तन नहीं आता ? वृद्धि भी तो परिवर्तन है और अगर कवि ने अनुभव में कोई वृद्धि नहीं की तो उसकी संवेदना किस काम की ?

यहां तक पहुंचते-पहुंचते मानो एक नई खिड़की खुल जाती है और पौराणिक गाथाओं के चरित-नायक नये वेश में दीखने लगते हैं। वह खिड़की मानो जीवन की रंगस्थली में खुलनेवाली एक खिड़की है, अभि-नेता रंगमंच पर जिस रूप में आएंगे उससे कुछ पूर्व के सहज रूप में उन्हें इस खिड़की से देखा जा सकता है। या यह समझ लीजिए कि सूत्रधार उन्हें कोई आदेश न देकर रंगमंच पर छोड़ दे तो वे पात्र सहज भाव से जो अभि-नय करेंगे वह हमें दीखने लगता है और कैसे मान लें कि सूत्रधार के निर्देश के बिना पात्र जिस रूप में सामने आते हैं—जीते हैं—वही अधिक सच्चा नहीं है ?

शिप्र द्वीप के महान कलाकार पिंगमाल्य का नाम किसने नहीं सुना ?

कहते हैं कि सौन्दर्य की देवी अपरोदिता का वरदान उसे प्राप्त है—उसके हाथ से असुन्दर कुछ बन ही नहीं सकता। स्त्री-जाति-मात्र से पिंगमाल्य को घृणा है, लेकिन एक के बाद एक सैकड़ों स्त्री-मूर्तियां उसने निर्माण की हैं। प्रत्येक को देखकर दर्शक उसे उससे पहली निर्मित से अधिक सुन्दर बताते हैं और विस्मय से कहते हैं, "इस व्यक्ति के हाथ में न जाने कैसा जादू है! पत्थर भी इतना सजीव दीखता है कि जीवित व्यक्ति भी कदाचित् उसकी बराबरी न कर सके। कहीं देवी अपरोदिता इन प्रस्तर-मूर्तियों में जान डाल देती! देश-देशान्तर के वीर और राजा उस नारी के चरण चूमते जिसके अंक पिंगमाल्य की छेनी ने गढ़े हैं और जिसमें प्राण स्वयं देवी अपरोदिता ने फूंके हैं।"

कभी कोई समर्थन में कहता, "हां, उस दिन पिंगमाल्य की कला पूर्ण सफल हो जाएगी, और उसके जीवन की साधना भी पूरी हो जाएगी—इससे बड़ी सिद्धि और क्या हो सकती है!"

पिंगमाल्य सुनता और व्यंग्य से मुस्करा देता। जीवित सौन्दर्य कब पाषाण के सौन्दर्य की बराबरी कर सका है! जीवन में गति है, ठीक है; लेकिन गति स्थानान्तर के बिना भी हो सकती है—बल्कि वही तो सच्ची गति है। कला की लयमयता—प्रवहमान रेखा का आवर्तन और विवर्तन—वह निश्चल सेतु जो निरन्तर भूमि को अन्तरिक्ष से मिलाता चलता है—जिसपर से हम क्षण में कई बार आकाश को छूकर लौट आ सकते हैं—वही तो गति है! नहीं तो सुन्दरियां पिंगमाल्य ने अमथ्य के उद्यानों में बहुत देखी थीं उन्हींकी विलासिता और अनाचारिता के कारण तो उसे स्त्री-जाति से घृणा हो गई थी···उसे भी कभी लगता कि जब वह मूर्ति बनाता है तो देवी अपरोदिता उसके निकट अदृश्य खड़ी रहती है—देवी का छाया-स्पर्श ही उसके हाथों को प्रेरित करता है, देवी का यह ध्यान ही उसकी मन:शक्ति को एकाग्र करता है। कभी वह मूर्ति बनाते-बनाते अपरोदिता के अनेक रूपों का ध्यान करता चलता—काम की जननी, विनोद की रानी, लीला-विलास की स्वामिनी, रूप की देवी···

एक दिन सांझ को पिंगमाल्य तन्मय भाव से अपनी बनाई हुई एक नई मूर्ति को देख रहा था। मूर्ति पूरी हो चुकी थी और एक बार उसपर ओप भी दिया जा चुका था। लेकिन उसे प्रदर्शित करने से पहले सांझ के रंजित प्रकाश में वह स्थिर भाव से देख लेना चाहता था। वह प्रकाश प्रस्तर को जीवित त्वचा की सी कान्ति दे देता है; दर्शक उससे और अधिक प्रभावित होता है, लेकिन कलाकार उसमें कहीं कोई कोर-कसर रह गई हो तो उसे भी देख लेता है।

किन्तु कहीं कोई कमी नहीं थी; पिंगमाल्य मुग्ध भाव से उसे देखता हुआ मूर्ति को संबोधन करके कुछ कहने ही जा रहा था कि सहसा कक्ष में एक नया प्रकाश भर गया जो सांझ के प्रकाश से भिन्न था। उसकी चकित आंखों के सामने प्रकट होकर देवी अपरोदिता ने कहा, "पिंगमाल्य, मैं तुम्हारी साधना से प्रसन्न हूं। आजकल कोई मूर्तिकार अपनी कला से मेरे सच्चे रूप के इतना निकट नहीं आ सका है, जितना तुम। मैं सौन्दर्य की पारमिता हूं। बोलो, तुम क्या चाहते हो—तुम्हारी कौन-सी अपूर्ण, अव्यक्त इच्छा है?"

पिंगमाल्य अपलक उसे देखता हुआ किसी तरह कह सका, "देवि, मेरी तो कोई इच्छा नहीं है। मुझमें कोई अतृप्ति नहीं है।"

"तो ऐसे ही सही," देवी तनिक मुस्कराई, "मेरी अतिरिक्त अनुकम्पा ही सही। तुम अभी मूर्ति से कुछ कहने जा रहे थे। मेरे वरदान से अब मूर्ति ही तुम्हें पुकारेगी—"

रोमांचित पिंगमाल्य ने अचकचाते हुए कहा, "देवि···"

"और उसके उपरान्त···" देवी ने और भी रहस्यपूर्ण भाव से मुस्कराकर कहा, "पर उसके अनन्तर जो होगा वह तुम स्वयं देखना, पिंगमाल्य! मैं मूर्ति को ही नहीं, तुम्हें भी नया जीवन दे रही हूं—और मैं आनन्द की देवी हूं!"

एक हलके-से स्पर्श से मूर्ति को छूती हुई देवी उसी प्रकार सहसा अन्तर्धान हो गई, जिस प्रकार वह प्रकट हुई थी।

लेकिन देवी के साथ जो आलोक प्रकट हुआ था वह नहीं बुझा। वह मूर्ति के आसपास पुंजित हो आया।

एक अलौकिक मधुर कंठ ने कहा, "मेरे निर्माता—मेरे स्वामी!" और पिंगमाल्य ने देखा कि मूर्ति पीठिका से उतरकर उसके आगे झुक गई है।

पिंगमाल्य कांपने लगा। उसके दर्शकों ने अधिक से अधिक अतिरंजित जो कल्पना की थी वह तो यहां सत्य हो आई है। विश्व का सबसे सुन्दर रूप सजीव होकर उसके सम्मुख खड़ा है, और उसका है। रूप भोग्य है, नारी भी...

मूर्ति ने आगे बढ़कर पिंगमाल्य की भुजाओं पर हाथ रखा और अत्यन्त कोमल दबाव से उसे अपनी ओर खींचने लगी।

यह मूर्ति नहीं, नारी है। संसार की सुन्दरतम नारी, जिसे स्वयं अप-रोदिता ने उसे दिया है। देवी जो गढ़ती है उससे परे सौन्दर्य नहीं है, जो देती है उससे परे आनन्द नहीं है। पिंगमाल्य के आगे सीमाहीन आनन्द का मार्ग खुला है।

जैसे किसीने उसे तमाचा मार दिया हो, ऐसे सहसा पिंगमाल्य दो कदम पीछे हट गया। स्वर को यथासम्भव सम और अविकल बनाने का प्रयास करते हुए उसने कहा, "तुम यहां बैठो।"

रूपसी उसी पीठिका पर बैठ गई, जिसपर से वह उतरी थी। उसके चेहरे की ईषत् स्मिति कक्ष में चांदनी बिखेरने लगी।

दूसरे दिन पिंगमाल्य का कक्ष नहीं खुला। लोगों को विस्मय तो हुआ लेकिन उन्होंने मान लिया कि कलाकार किसी नई रचना में व्यस्त होगा। सायंकाल जब धूप फिर पहले दिन की भांति कक्ष के भीतर के वायुमंडल को रंजित करती हुई पड़ने लगी तब देवी अपरोदिता ने प्रकट होकर देखा कि पिंगमाल्य अपलक वहीं का वहीं खड़ा है और रूपसी जड़वत् पीठिका पर बैठी है। इस अप्रत्याशित दृश्य को देखकर देवी ने कहा, "यह क्या देखती

हूं, पिंगमाल्य ? मैंने तो तुम्हें अतुलनीय सुख का वरदान दिया था ?"

पिंगमाल्य ने मानो सहसा जागकर कहा, "देवी, यह आपने क्या किया ?"

"क्यों ?"

"मेरी जो कला अमर और अजर थी उसे आपने जरा-मरण के नियमों के अधीन कर दिया ! मैंने तो सुख-भोग नहीं मांगा—मैं तो यही जानता आया कि कला का आनन्द चिरन्तन है ।"

देवी हंसने लगी, "भोले पिंगमाल्य ! लेकिन कलाकार सभी भोले होते हैं । तुम नहीं जानते कि तुम क्या मांग रहे हो—या कि क्या तुम्हें मिला है जिसे तुम खो रहे हो । किन्तु तुम चाहते हो तो और विचार करके देख लो । मैं तुम्हारी मूर्ति को फिर जड़वत् किए जाती हूं । लेकिन रात को तुम उसे पुकारोगे और उत्तर न पाकर अधीर हो उठोगे । कल मैं आकर पूछूंगी—तुम चाहोगे तो कल मैं इसमें फिर प्राण डाल दूंगी । मेरे वरदान वैकल्पिक नहीं होते । लेकिन तुम मेरे विशेष प्रिय हो, क्योंकि तुम रूप-स्रष्टा हो ।"

देवी फिर अन्तर्धान हो गई । उसके साथ ही कक्ष का आलोक भी बुझ गया । पिंगमाल्य ने लपककर मूर्ति को छूकर देखा, वह मूर्ति ही थी, सुन्दर ओपयुक्त, किन्तु शीतल और निष्प्राण ।

विचार करके और क्या देखना है ? वह रूप का स्रष्टा है, रूप का दास होकर रहना वह नहीं चाहता । मूर्ति सजीव होकर प्रेय हो जाए, यह कलाकार की विजय भी हो सकती है, लेकिन कला की निश्चय ही वह हार है।···पिंगमाल्य ने एक बार फिर मूर्ति को स्पर्श करके देखा । कल देवी फिर प्रकट होगी और इस मूर्ति में प्राण डाल देगी । आज जो पिंगमाल्य की कला है, कल वह एक किंवदन्ती बन जाएगी । लोग कहेंगे कि इतना बड़ा कलाकार पहले कभी नहीं हुआ, और यही प्रशंसा या अपवाद भविष्य के लिए उसके पैरों की बेड़ियां बन जाएगा···। किन्तु कल···

चौंककर पिंगमाल्य ने एक बार फिर मूर्ति को छुआ और मूर्ति की दोनों

बांहें अपनी मुट्ठियों में जकड़ लीं। कल···उसकी मुट्ठियों की पकड़ धीरे-धीरे शिथिल हो गई। आज यह मूर्ति है, पिंगमाल्य की गढ़ी हुई अद्वितीय सुन्दर मूर्ति, कल यह एक नारी हो जाएगी—अपरोदिता से उपहार में मिली हुइ अद्वितीय सुन्दरी नारी।···पिंगमाल्य ने भुजाओं से पकड़कर मूर्ति को ऊंचा उठा लिया और सहसा बड़े ज़ोर से नीचे पटक दिया।

मूर्ति चूर-चूर हो गई।

अब वह कल नहीं आएगा। पिंगमाल्य की कला जरा-मरण के नियमों के अधीन नहीं होगी। कला उसकी श्रेय ही रहेगी, प्रेय होने का डर अब नहीं है।

किन्तु अपरोदिता ? क्या देवी का कोप उसे सहना होगा ? क्या उसने सौन्दर्य की देवी की अवज्ञा कर दी है और इसलिए अब उसकी रूप-कल्पी प्रतिभा नष्ट हो जाएगी ?

किन्तु अवज्ञा कैसी ? देवी ने स्वयं उसे विकल्प का अधिकार दिया है।

पिंगमाल्य धरती पर बैठ गया और अनमने भाव से मूर्ति के टुकड़ों को अंगुलियों से धीरे-धीरे इधर-उधर करने लगा।

क्या देवी अब भी छायावत् उसकी कोहनी के पीछे रहेगी और उसकी अंगुलियों को प्रेरित करती रहेगी ? या कि वह उदासीन हो जाएगी ? क्या वह—क्या वह आज से कला-साधना में अकेला हो गया है ?

पिंगमाल्य आविष्ट-सा उठकर खड़ा हो गया। एक दुर्दान्त साहसपूर्ण भाव उसके मन में उदित हुआ और शब्दों में बंध आया। कला-साधना में अकेला होना ही तो साधक होना है। वह अकेला नहीं हुआ है, वह मुक्त हो गया है।

वह आसक्ति से भी मुक्त हो गया है और वह देवी से भी मुक्त हो गया है।

कथा है कि पिंगमाल्य ने उस मूर्ति से जिसमें देवी ने प्राण डाले थे, विवाह कर लिया था और उससे एक सन्तान भी उत्पन्न की थी, जिसने

अनन्तर प्रपोष नाम का नगर बसाया। किन्तु वास्तव में पिंगमाल्य की पत्नी शिलोद्भवा नहीं थी। बन्धनमुक्त हो जाने के बाद पिंगमाल्य ने पाया कि वह घृणा से भी मुक्त हो गया है और उसने एक शीलवती कन्या से विवाह किया। भग्न मूर्ति के खंड उसने बहुत दिनों तक अपनी मुक्ति की स्मृति में संभाल रखे। मूर्ति के लुप्त हो जाने का वास्तविक इतिहास किसी-को पता नहीं चला। देवी ने भी पिंगमाल्य के लिए व्यस्त होना अनावश्यक समझा। क्योंकि कला-साधना की एक दूसरी देवी है, और निष्ठावान गृहस्थ-जीवन की देवी उससे भी भिन्न।

और पिंगमाल्य की वास्तविक कला-सृष्टि इसके बाद ही हुई। उसकी कीर्ति जिन मूर्तियों पर आधारित है वे सब इस घटना के बाद ही निर्मित हुईं।

कहानी मैं नहीं कहता। लेकिन मुझे कुतूहल होता है कि कहानियां आखिर बनती कैसे हैं? पुराण-गाथाओं के प्रतीक सत्य क्या कभी बदलते नहीं? क्या सामूहिक अनुभव में कभी कोई वृद्धि नहीं होती? क्या कला-कार की संवेदना ने किसी नये सत्य का संस्पर्श नहीं पाया?

○ ○ ○

आशा है, यह कहानी-संग्रह आपको रुचिकर लगा होगा। इसके बारे में हम आपके बहुमूल्य विचारों का स्वागत करेंगे। राजपाल एण्ड सन्ज़ का सदैव यह प्रयास रहा है कि उत्कृष्ट प्रकाशनों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया जाए; और यह सब आपके हार्दिक सहयोग पर ही निर्भर है। यदि आप कथा-साहित्य पढ़ने में रुचि रखते हैं तो हमारा उत्कृष्ट कथा-साहित्य मंगवाकर पढ़िए अथवा पुस्तकों का चुनाव करते समय हमें लिखिए। हम आपकी हर संभव सहायता करने का प्रयास करेंगे।
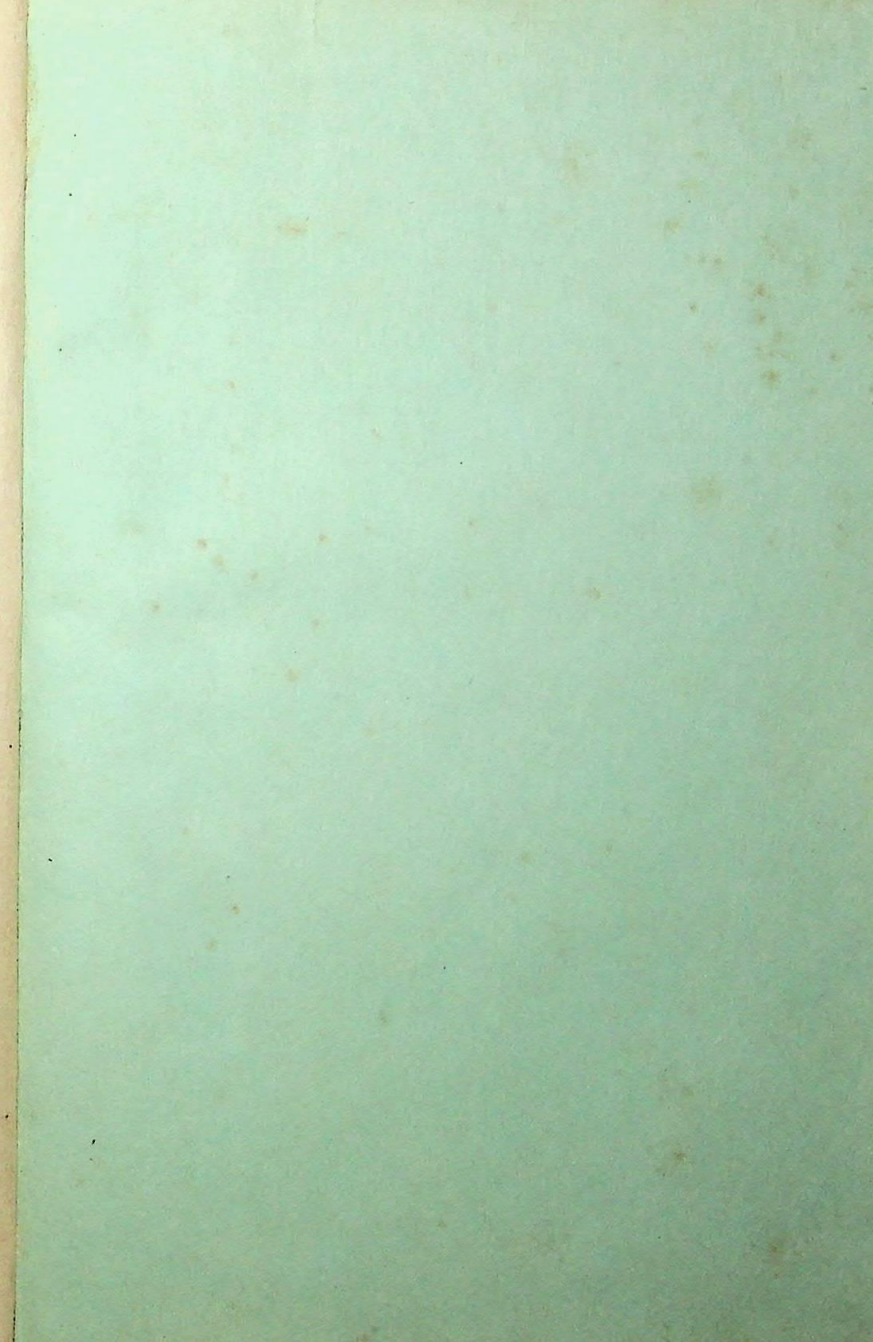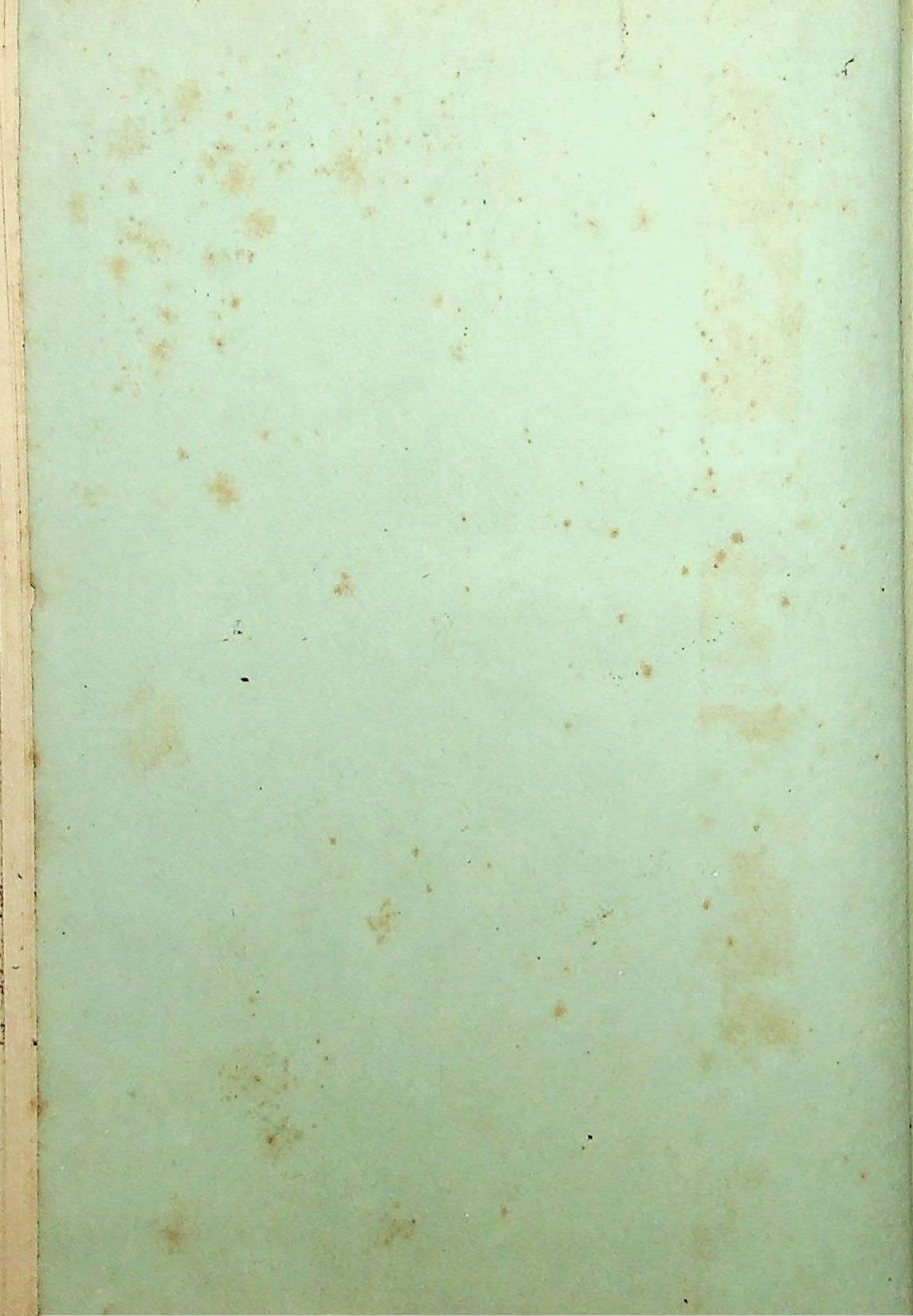
यदि आप चाहते हैं

कि राष्ट्रभाषा में प्रकाशित

नित नई उत्कृष्ट पुस्तकों का परिचय

आपको मिलता रहे,

तो कृपया अपना पूरा पता

हमें लिख भेजें।

हम आपको इस विषय में

नियमित सूचना देते रहेंगे।

श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (जन्म १९११ ईस्वी) असाधारण प्रतिभा के कलाकार हैं। अध्ययनकाल में क्रांतिकारी आंदोलन में सम्मिलित हुए। फलस्वरूप एम० ए० की पढ़ाई अधूरी छोड़ देनी पड़ी। आंदोलन के सिलसिले में अनेक बार जेल-यात्राएं करनी पड़ीं। जेल-जीवन में कई कहानियां और कविताएं लिखीं। पहली कहानी १९२४ में 'सेवा' पत्रिका में प्रकाशित हुई।

आपका साहित्यिक व्यक्तित्व विशाल है। हिन्दी साहित्य में युगांतरकारी रूप में आपका प्रादुर्भाव हुआ। रचना-सृष्टि के साथ ही नवीन लेखक-समुदाय के निर्माण में आपका बहुत बड़ा योग रहा है।

जीवन की गहन बौद्धिक अनुभूति, प्रखर चेतनात्मक भावो-न्मेष तथा सहज संवेदनशीलता आपकी कृतियों में व्याप्त है।

आपके कहानी, उपन्यास, काव्य, यात्रावृत्त और आलोचना-विषयक ग्रन्थों में आपकी बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। चित्र-कला तथा मूर्तिकला की ओर भी आपकी प्रवृत्ति है।

साहित्यिक जीवन की विविधता आपके सामान्य जीवन में भी परिव्याप्त-सी लगती है। अध्ययन-चिन्तन के अतिरिक्त आपको देश-विदेश की यात्राएं प्रिय है। आप एक कुशल यात्री हैं।

प्रस्तुत कहानी-सं[illegible] —ये तेरे प्रतिरूप—आपकी नवीनतम [illegible]नियों का संग्रह है।